लेने के लिए कैसे आवें ? और सादर प्रेमाश्रु बहाते हुए उसको साथ में लेकर अपने पलङ्ग पर बिठाकर पूजनादि क्यों करे ? इसके बाद भगवान् मुस्कराते हुए सुदामा को प्रिय वचन कहने लगे। मुस्कराहट से कहने का भावार्थ है कि प्रभु को सुदामा के लिए जो करना था वह गुप्त करना था ॥२॥

आभास—सार्धाभ्यामाह भगवद्वाक्यं **किमुपायनमानीतमिति** ।

आभासार्थ—भगवान् के वाक्य 'किमुपायनं' डेढ़ श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात् ।**
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥३॥

श्लोकार्थ—भगवान् कहने लगे कि हे ब्रह्मन् ! आप मेरे लिए घर से क्या भेंट लाए हो ? भक्त लोग प्रेम से किंचित् मात्र भी अर्पण करें, तो उसे मैं बहुत अधिक कर मानता हूँ और अभक्त पुरुष बहुत अर्पण करे, तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं होता हूँ ॥३॥

सुबोधिनी—**ब्रह्मन्निति** । संबोधनाद् धर्मज्ञानं सूचितम् । तेन उपायनानयनं निश्चितम् । **मे** मह्यम् । मध्ये शास्त्रार्थत्वाय गृहीतं तु न मे सुखायेति विशेषमाह **गृहादिति** । ननु पूर्णस्य तव किमुपायनेन अस्मदर्थं तु अस्माभिरेव दत्तं स्यादतो व्यर्थं ग्रहणमिति चेत्तत्राह **अण्वप्युपाहृतमिति** । **भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते** एतत्सर्वं प्रायेणाभक्तैरुपाहृतम् । पृथुकतण्डुला एव भक्तोपाहृताः सर्वस्यामपि द्वारकायाम् । भक्ताहृतत्वे को विशेष इति चेत् **प्रेम्णा अण्वपि भक्तोपाहृतं भूर्यव मे भवेत्** । प्रेमान्तःकरणधर्मः यो हि स्वापेक्षया अधिकमानयति तत्तस्याधिकं भवति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति । मम चायं नियमः प्रेम्णा समानीतं हृदयानीतं भवति हृदयमणुमात्रम्, तण्डुलास्तु मुष्टिचतुष्टयात्मकाः अहं च हृदयरूप एव तद् गृह्णामि । अतः अण्वप्युपाहृतं मत्समानत्वात् भक्ष्यं न्यूनपरिमाणमेव युक्तमिति मे भूर्येव भवेत् । अभक्तेन तूपहृतं बहिर्दृष्ट्या उपहृतं भवति बहिश्च ब्रह्माण्डमिति तद्ग्रहणे अहमपि तथा । अतो यथाकथंचित् सर्वसामर्थ्येनापि समाहृतं मम तृप्तिहेतुर्न भवतीति **अल्पत्वान्न मे तोषाय कल्पते** । अथवा । 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति' इति वाक्यात् प्रेम्णैव तुष्यति न त्वन्यथेति, प्रेम तु साधारणमेव मत्संनिधौ समायातीति तस्या देहोऽन्यार्थमेव विनियुक्त इति लिङ्गशरीरं च तेनैवावरुद्धमिति तण्डुलाश्रितैव भक्तिरत्रागता । अतो भक्तिसहभावः पदार्थानां निरूप्यते । **अभक्तेन** रूक्षेण । लोकेऽपि घृतादिप्लुतं भक्ष्यं तोषाय न तु रूक्षम् । विधौ द्वयं प्रयोजकं अधिकारविशेषणं करणं च । निषेधे तु विशेषमाह करणं तु सिद्धमेवेति । अभक्तस्य भक्तिरप्यभक्तिरेवेति वा ॥३॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्मन् । संबोधन देने का भाव यह है, कि आपको धर्म का ज्ञान है जिससे मेरे लिए भेंट जरूर लाए होंगे किन्तु वह भी घर से लाए होंगे, न कि आते हुए, मध्य में कहीं से लाए हो, वह तो मुझे आनन्द देने वाली नहीं होगी । यदि तुम कहो, कि आप पूर्ण हैं, पूर्ण के लिए भेंट

लाने की क्या आवश्यकता है ? जो कहो, कि हमारे लिए जो हम लोगों को दी गई, वह भेंट (आपके लिए) लानी व्यर्थ है । इस पर भगवान् कहते हैं, कि किञ्चन्मात्र भी भक्त से अर्पण हुआ पदार्थ मुझे प्रसन्न करनेवाला होता है और अभक्त कितना भी अधिक ले आवे, तो वह मुझे आनन्द नहीं देता है । यह जो द्वारका में स्थित है, वह सर्व ऐश्वर्य के वश हो, अभक्त इन्द्र आदि देवों से लाए गए हैं न कि प्रेम से, अतः उससे मुझे प्रसन्नता नहीं है । इस समस्त द्वारका में, ये तण्डुल ही भक्त के लाए हुवे हैं । भक्त के लाए हुवे में क्या विशेषता है ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर है कि प्रेम से थोड़ा सा भी भक्त द्वारा दिया हुआ मुझे बहुत दीखता है, कारण कि, प्रेम अन्तःकरण का धर्म हैं । हृदय अणु है अतः उसको अपेक्षा अधिक लाता है वह लाया हुआ 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस गीता वाक्यानुसार अधिक हो जाता है । मेरा तो यह नियम है, कि प्रेम से जो वस्तु लाई जाती है, वह हृदय से लाई जाती है, हृदय अणुमात्र है और ये तण्डुल चार मुट्ठी भर होने से हृदय से अधिक हैं । हम तो वे हृदय रूप ही समझ ग्रहण करते हैं, अतः अणु भी लाया हुवा मेरे समान होने से 'भक्ष्य' कम परिमाण ही उचित है, इसलिए वह मेरे लिए बहुत ही हो जाता है । अभक्त का बहिर्दृष्टि से अर्थात् बिना प्रेम से, लाया हुआ है, बहिर्दृष्टि ब्रह्माण्ड में है, अतः मैं भी उसके ग्रहण करने में वैसा ही बन जाता हूँ, अतः वह अपनी सामर्थ्य से कितना भी लाया हुआ मुझे तृप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि वह मेरे लिए अल्प हो जाता है, कारण कि, मैं महान् ब्रह्माण्ड रूप होकर ही ग्रहण करता हूं । जिससे बहिर्दृष्टि से अभक्त का लाया हुआ कितना भी, अधिक हो तो मुझे प्रसन्न नहीं कर सकता है, अथवा 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति' भगवान् तो भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं न कि दूसरे प्रकार से यों प्रेम तो साधारण ही मेरे पास आ जाता है उसकी देह धर्मार्थ में ही लगी हुई हैं, लिङ्ग शरीर उसने ही रोक रखा है इसलिए तण्डुल में आश्रित उसकी भक्ति ही यहाँ आई है, अतः पदार्थों का भक्ति के साथ सहभाव कहा जाता है । जो अभक्त हैं वे प्रेम रहित होने से रूक्ष हैं, लोक में भी घृत आदि से चुपड़ा हुआ स्निग्ध पदार्थ ही मन को आनन्द देता है, न कि रूखा नीरस पदार्थ प्रसन्न करता है, विधि में दो प्रयोजक हैं, एक अधिकार और दूसरा करण, निषेध में तो विशेष कहते हैं कि करण तो सिद्ध ही है अथवा अभक्त की भक्ति भी अभक्ति ही है, यों ॥३॥

आभास—एवं पदार्थस्थितिमुक्त्वा स्वस्य बलादिव ग्रहणे हेतुमिव स्वसंकल्पमाह **पत्रं पुष्पमिति** ।

आभासार्थ इस प्रकार पदार्थ स्थिति कहकर आपने बलपूर्वक (जबर्दस्ती) स्वयं ले लिए जिसके हेतु की तरह अपना 'पत्रं पुष्पं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥४॥

श्लोकार्थ—मुझ में ही जिसकी आत्मा है, वैसे का प्रेम से दिया हुआ जो पत्र, पुष्प, फल और जल है, उसको मैं स्वीकार करता हूँ ॥४॥

सुबोधिनी—पत्रं तुलस्यादि, **पुष्पं** लवङ्गादि. **फलमा**म्रादि, **तोयं** गङ्गाजलादि, एतच्चतुष्टयमविकृतमनुपहतं च अन्यत्पाकादिना उपहतं भवेत् अग्निसंस्काराद्यभावात्। वनस्थानां दरिद्राणां परमहंसानामुपलक्षणविधया तेषामर्थे चतुष्टयमुक्तमिति केचित्। ब्राह्मणद्वारा त्वन्यदपि भक्षयतीति 'नाहं तथाद्मि' इति वाक्यात्। अविकृतमुत्तमसंस्कारेण संस्कृतमिति विचारकाः। एकेन त्वाहृतमेक एव भक्षयामि न हि कस्यचिदपि चतुष्टये श्रद्धाधिक्यं भवति। अत उद्दिष्टानां विकल्प इति ख्यापयितुं **तदि**त्याह तत्पत्राद्दीनामन्यतरत्। **अहमि**ति पुरुषोत्तमः मदर्थं संपाद्य स्वाधिकारानुसारेण यत्र क्वचिन्निवेदयतु तत्रैवाहं भक्षयामीत्यर्थः। दानसमये भक्त्यैव दानं, यथेष्टं पुत्राय कश्चित्प्रयच्छति मम तु ततोऽपि विशेष इत्याह **भक्त्युपहृतमि**ति। तत्स्थानादुद्धरणप्रभृतिमत्समीपानयनपर्यन्तं स्नेहस्याविच्छेदोऽपेक्ष्यते। स्मरणसहितस्नेह इति केचित्। किंच। तच्चेद्द्रव्यं **प्रयतात्मनो** भवति प्रकर्षेण नियतान्तःकरणस्य कामादिसर्वदोषरहितस्य चेत्पत्रादिकं भवेत्तदा अवश्यम**श्नामि**। अशनं यथाक्रियोपलक्षकम्। वस्तुतस्तु सर्वमेतच्चतुष्टयमध्ये निविशति अन्नवस्त्रादिकमपि **फलमे**व, दुग्धेक्षुरसादिकं **तोयं**, ताम्बूलादिकं **पत्रा**णि। सुवर्णरत्नादिकं **पुष्पा**णीति। अन्तःप्रवेशनं च भोजनम्। यत्र क्वचित् स्थापितमात्मसात्करोतीत्यर्थः ॥४॥

व्याख्यार्थ—'पत्र' तुलसी आदि **पुष्पं**' लवङ्गआदि, 'फलं' आम्र आदि 'तोयं' गङ्गाजलादि, ये चार ही विकार रहित और अनुपहत (अप्रभावित) हो और अल्पपाकादि से मिला हुआ हो जो अग्नि संस्कारादि के अभाव वाले ही कोई कहते हैं कि जो वनस्थ हैं, दरिद्र हैं और परमहंस हैं उनके लिए ये चार उपलक्षण विधि से कहे हुवे हैं, जैसे ब्राह्मण द्वारा विकृत और उपहत (प्रभावित) ही भक्षण किया जाता है वैसे मैं भक्षण नहीं करता हूं, विचारक कहते हैं कि उत्तम संस्कारों से संस्कार किया हुआ जो अविकृत है वह ही मैं आरोगता हूँ। एक द्वारा उनमें से लाया हुआ एक हो, तो भी मैं उसका भक्षण कर लेता हूं. कारण कि, किसी की भी चारों में विशेष श्रद्धा नहीं होती है, अतः उद्दिष्टों (विशेष रूप से कही हुई बातों का) का विकल्प है यह प्रकट करने के लिए 'तत्' पद दिया है जिसका भावार्थ है पत्र आदि चारों में से कोई एक भी हो तो मैं पुरुषोतम हूँ अतः मेरे लिए अपने अधिकारानुसार बना के तैयार किया हुआ, जहाँ भी कुछ निवेदन हो, तो वहाँ ही मैं आरोगता हूं।

दान के समय, भक्ति से दान होता है। कोई पुत्र को यथेष्ट देता है, मुझे तो उससे भी विशेष देता है, इसलिए 'भक्त्युपहृतं' भक्ति से लाया हुआ, अर्थात् उस स्थान से उठाकर मेरे समीप लाने तक स्नेह नहीं टूटे ऐसी प्रक्रिया के साथ स्नेहमग्न हो लाते हैं तब मैं वहाँ ही आरोगकर उनके स्नेह को बढाता हुं। कोई कहते हैं कि स्मरण सहित स्नेह होना चाहिए. और विशेष में वह द्रव्य यदि कामादि दोष से रहित, मुझ में ही जिसके अन्तःकरण की स्थिति है, वह लाता है, तो निश्चय मैं आरोगता हूँ 'अशन' शब्द भोजन की क्रिया का उपलक्षक है' वास्तविक में तो ये सर्व पदार्थ इन चारों में ही आजाते हैं. जैसे कि, अन्नवस्त्र आदि भी फल हैं, दुग्ध, ईख, रस आदि सर्व जल हैं, ताम्बूल आदि पत्र' हैं, सुवर्णरत्नआदि पुष्प गिने जाते हैं भीतर प्रवेश होना ही भोजन है, जहां कहीं भी रखा हुआ अपना लेते हैं ॥४॥

श्लोक **इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः।**
पृथुकप्रसृतिं राजन्न प्रायच्छदवाङ्मुखः ॥५॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! इस प्रकार भगवान् ने कहा, तो भी लज्जा के कारण नीचा मुखकर बैठे हुए सुदामा ने लज्जा से लक्ष्मी के पति भगवान् को वे तण्डुल नहीं दिए जो स्त्री ने भगवान् को भेंट करने के लिए दिए थे ॥५॥

सुबोधिनी—एवं भार्यया प्रहितं त्वया भक्तेन भक्त्या चाहृतं देयमित्युक्तोऽपि **द्विजः** सङ्कोचाविष्टोऽल्पबुद्धिः **श्रियः पतये तस्मै पृथुकप्रसृतिं** मुष्टिचतुष्टयात्मकं प्रसृतिः सेरमात्रं भवतीति **न प्रायच्छत्**। लज्जया चाधोमुखो जातः, किं मया समाहृतमिति, अतिसाधारणानामेवैतद्भक्ष्यम्। ततो भगवान् विचारितवान्, अयं तु न प्रयच्छति तथापि ग्राह्यं न वेति। तदर्थं चैतद्विचारयति किमस्मै संपदो देया न वेति ॥५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने कहा कि स्त्री ने लाकर मेरे लिए तुमको दिए हैं। तुम जो मेरे भक्त हो, उसने भक्ति से भेजे हैं, इस कारण वे मुझे देने चाहिए। इस प्रकार ब्राह्मण को कहा, किन्तु ब्राह्मण सङ्कोचवाला हो गया और अल्प बुद्धि था। अतः लक्ष्मी के पति भगवान् को सेर भर चावल नहीं दिए, लाज के मारे नीचा मुख कर बैठा ही रहा और मन में विचारा कि मैं लाया ही क्या हूँ? जो कुछ लाया हूं वह तो अति साधारण मनुष्यों के खाने के योग्य हैं। अतः कैसे दूँ? भगवान् भी फिर विचारने लगे कि यह तो देता नहीं, तो भी लेना चाहिए वा नहीं? इसके लिए विचारते हैं कि इसको (सुदामा को) सम्पदा देनी चाहिए वा नहीं? ॥५॥

कारिका— **कामितं दोषरहितं भगवांस्तु प्रयच्छति।**
अलौकिकत्वात्संपत्तेर्दोषाभावः सुनिश्चितः ॥१॥

कारिकार्थ भगवान् जो कुछ सम्पदा देते हैं, वह दोष रहित होती है; क्योंकि वह सम्पदा अलौकिक होने से निश्चय निर्दोष है ॥१॥

कारिका—**कामाभावस्त्वस्य सिद्धो न देयं तत्कथंचन।**
स्वत आगमनं तस्य न भवत्येव भार्यया ॥२॥

कारिकार्थ इसको (सुदामा को) किसी प्रकार की कामना नहीं है, अतः इसको कुछ भी नहीं देना चाहिए क्योंकि इसका यहाँ आना अपनी इच्छा से नहीं है किन्तु भार्या के कहने से आया है ॥२॥

कारिका—**प्रेषितस्यागतिस्त्वस्य भार्यागतिरियं मता।**
प्रतिबन्धकता त्वस्य दाने लज्जादिदोषतः।
तस्मात्तस्या गृहीत्वैतत् तस्यै दास्यामि निश्चितम् ॥३-५॥

कारिकार्थ—भार्या ने भेजा है, अतः यहाँ यह आना भार्या का ही है। यह तण्डुल नहीं देता है, इसका कारण लज्जादि दोष है। इस कारण से ये चाँवल उस भार्या के हैं, उसके चावल लेकर सम्पदा भी उसको ही दूँगा। यह निश्चित् है ॥३-५॥

आभास—एतद्वदन्नस्य दोषाभावमाह **सर्वभूतात्मदृगिति**।

आभासार्थ—यों कहते हुए 'सर्वभूतात्म दृक्' श्लोक में भगवान् इसकी निर्दोषता प्रकट करते है—

श्लोक—**सर्वभूतात्मदृक् साक्षात्तस्यागमनकारणम्।**
विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत्पुरा ॥६॥

श्लोकार्थ—सकल भूतों के हृदयों के ज्ञाता भगवान् ने इसके आने का कारण जान लिया कि यह लक्ष्मी लेने की इच्छा से मेरे पास नहीं आया है और इसने पूर्व में भी लक्ष्मी के लिए भजन नहीं किया है ॥६॥

सुबोधिनी — **सर्वभूतानामात्मानमन्तःकरणं** पश्यतीति। एतस्य तस्या अपि हृदयं जानातीत्युक्तम्। **साक्षात्तस्य** आगमनकार्यं भार्यार्थमेव। प्रासङ्गिकं तु स्वार्थं एतद्विज्ञायाचिन्तयत्। अत्रार्थः संदिग्ध इति संदेहमेवाह **नायं श्रीकाम** इति। **मां च पुरा अभजत्**। ततोऽयं भक्तो निष्कामः। अतोऽस्मै स्वरूपमेव देयम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् सकल जीवों के अन्तःकरण को जानते हैं अतः इसके और इसकी पत्नी के हृदय को भी जानते हैं, इसका यहाँ आने का साक्षात् कारण इसकी स्त्री के लिए ही है, केवल प्रासङ्गिक अपने लिए है, यह जानकर विचार करने लगे। इस प्रसङ्ग में अर्थ संदिग्ध (संदेहवाला) है, उस संदेह को कहते हैं कि इस ब्राह्मण को लक्ष्मी की इच्छा नहीं है, पहले भी यह मेरा भजन करता था तब भी लक्ष्मी की इच्छा नहीं की थी, अतः यह भक्त निष्काम है, इसलिए इसको अपना स्वरूप ही देना चाहिए न कि लक्ष्मी ॥६॥

श्लोक—**पत्न्या मे प्रेषितायातः सखा प्रियचिकीर्षया।**
प्राप्तो मामस्य दास्यामि संपदोऽमर्त्यदुर्लभाः ॥७॥

श्लोकार्थ—पत्नी के कहने से यहाँ आया है और मेरा मित्र है, अतः मेरे प्रिय करने की इच्छा से भी आया है, देव दुर्लभ सम्पदाएँ इसको दूँगा ॥७॥

सुबोधिनी—सांप्रतं च **पत्न्या स प्रेषितः आयातो** मत्समीपम्। **सन्धिरार्षः**। तर्हि कः संदेहः इदानीं तस्या एवार्थे देयमिति चेत्तत्राह **मे सखेति**। तथापि मम मित्रम्। मम च प्रियकरणार्थमागतः। अत किमेतद्धित कर्तव्यम्, तस्या हितं वा। भोगः किमेतद्गामी तद्गामी वा। एतद्गामी चेन्न देयं तद्गामी चेद्देयमिति आद्ये अस्य भोगात्स्वरूपात्प्रच्युतिः। द्वितीये तु प्रासङ्गिको भोग इति स न नाशकः। तस्याश्च प्रासङ्गिको मोक्षोऽपि भविष्यति। अत एतदर्थं पृथुकभक्षणमावश्यकम्। अस्मै चेद्दानं स्यात् तदेवमेव दद्यात् न ह्यन्येभ्यो ब्राह्मणेभ्यः किंचिद्गृहीत्वा प्रयच्छति, अतो द्वितीयपक्षमाह **प्राप्तो मामस्य दास्यामीति**। मत्प्रीत्यर्थमेव मां प्राप्तः। **अस्येति** संबन्धमात्रं न तु संप्रदानम्। एवं विचार्य देयोत्कर्षमाह **संपदोऽमर्त्यदुर्लभा** इति। अमर्त्यानामपि दुर्लभाः। यदा भगवान् स्वयमिन्द्रोऽभूत् तदा या संपत् तां दत्तवानिति वाक्यान्तरादवगम्यते 'सुदामरङ्कभक्तार्थभूम्यानीतेन्द्रवैभवः' इति। अत्र चामर्त्यदुर्लभा इति। अतो देवव्यतिरिक्तेन्द्रो भगवानेवेति ॥७॥

व्याख्यार्थ—अभी तो स्त्री का भेजा हुआ मेरे पास आया है, तो क्या संदेह है? अब स्त्री के लिए ही देनी चाहिये, यदि यों कहो तो यह भी मेरा मित्र है, और मेरे प्रिय करने के लिए आया है, अतः मैं इसका हित करूँ? वा इसकी पत्नी का हित करूँ? भोग यह करेगा वा उसकी पत्नी करेगी? यदि यह करेगा तो नहीं देना चाहिए, यदि वह करे तो देना चाहिए। यदि इसको दूँगा तो यह उसका उपभोग करने से स्वरूप से गिर जाएगा, यदि भार्या को दूँगा तो प्रासङ्गिक भोग होगा। वह नाश करनेवाला नहीं है और यों उसको देने से उसका भी प्रासङ्गिक मोक्ष हो जाएगा, इसलिए तण्डुलों का भक्षण आवश्यक है। इसके पास यदि दान की वस्तु होती तो यों ही दे देते, किन्तु अन्य ब्राह्मणों से कुछ लेकर। उन्हें कुछ नहीं देते। अतः दूसरा पक्ष कहते हैं कि यह मेरी प्रीति के लिए ही मेरे पास आया है, इसलिए इसका केवल सम्बन्ध ही है, न कि दान है। यों विचार कर जो देता है, उसका उत्कर्ष बताते हैं, जो सम्पदाएँ दी जाएगी, वे देवों को भी दुर्लभ हैं। भगवान् जब इन्द्र बने थे, उस समय जो सम्पदाएँ थीं, वे सम्पदाएँ भगवान् ने इसको दी। यह ज्ञान दूसरे वाक्यों से होता है। 'सुदामरङ्कभक्तार्थभूम्यानीतेन्द्रवैभव इति' रङ्कभक्त सुदामा के लिए ही पृथ्वी पर इन्द्र का वैभव भगवान् ने ला दिया है, देव दुर्लभ कहने का आशय यह है कि यह इन्द्र देव इन्द्र नहीं है, किन्तु भगवान् ही इन्द्र हैं; उनकी ही ये सम्पदाएँ हैं ॥७॥

श्लोक—**इत्थं विचिन्त्य वसनाच्चीरबद्धान् द्विजन्मनः।**
स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान् ॥८॥

श्लोकार्थ—यों विचार कर ब्राह्मण के फटे वस्त्र में बाँधे हुए तण्डुल, यह क्या है? ऐसे कहकर भगवान् ने स्वयं अपने हस्त से उस कपड़े में से तण्डुल ले लिए ॥८॥

सुबोधिनी—एवं निश्चित्य **वसनाच्छादितात्** तेन प्रावृतात्तत्प्रावरणं दूरीकृत्य **चीरेण** वस्त्रखण्डेन **बद्धान्**। **द्विजन्मन** इति। यदायमसावधानः कर्मकरणार्थं व्यग्रो वा तदा **स्वयं जहार**। हरणसमयवाक्यमाह **किमिदमिति** ॥८॥

व्याख्यार्थ—यों विचार पूर्वक निश्चयकर, वस्त्र से आच्छादित् (ढके हुए) जीर्ण वस्त्र में बन्धे हुवे तण्डुल थे, उनका वह आच्छादन हटा लिया, जब देखा कि ब्राह्मण दूसरे कार्य करने में व्यग्र होने से इस तरफ उसका ध्यान नहीं तब भगवान् ने 'यह क्या है'? यों कहकर स्वयं तण्डुल ले लिए ॥८॥

आभास—पश्चान्मोचयित्वा पृथुकतण्डुलान् दृष्ट्वा भगवानाह **नन्वेतदुपनीत**मिति ।

आभासार्थ—पीछे उस पोटली को खोल चाँवल देखकर भगवान् 'नन्वेतदुपनीतं' श्लोक कहने लगे—

श्लोक—**नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ।**
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥९॥

श्लोकार्थ—हे सखा ! यह तो आप ऐसी चीज ले आए हो, जो मुझे बहुत प्यारी है, हे अङ्ग ! ये तण्डुल तो मुझे और विश्व को तृप्त करने वाले हैं ॥९॥

सुबोधिनी—एतदुपायनं परमप्रीतिजनकम् । सखित्वात्सङ्कोचाददीयमानमपि ग्राह्यम् । पृथुकतण्डुलानां माहात्म्यमाह **तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्व**मिति । एते उपस्थिता भक्त्या संवलिताः ॥९॥

व्याख्यार्थ—यह भेंट अत्यन्त आनन्द देनेवाली है, मित्र के नाते और सङ्कोचवश न देने पर लेने योग्य है । इन तण्डुलों का माहत्म्य बताते हैं कि हे अङ्ग! ये तण्डुल ऐसे उत्तम हैं जो मुझे और समग्र विश्व को तृप्त करते हैं । ये तण्डुल भक्ति से पूरित हैं ॥९॥

आभास—एवं विचार्य मुष्टिमात्रं गृहीत्वा भक्षितवानित्याह **इति मुष्टि**मिति ।

आभासार्थ इसी प्रकार, विचार कर, एक मुट्ठी चाँवल लेकर भक्षण किए यों 'इतिमुष्टि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयं जग्धुमाददे ।**
तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥१०॥

श्लोकार्थ—यों कहकर, एक मुठ्ठी तो आरोग गये और जब दूसरी आरोगने लगे तब भगवत्परायण लक्ष्मी ने भगवान् का हाथ पकड़ लिया ॥१०॥

सुबोधिनी—सर्वमेव **जग्धुं द्वितीयं मुष्टिमाददे** तदा लक्ष्म्या प्रतिबन्धः कृत इत्याह **तावच्छ्रीर्जगृहे** हस्तमिति । लक्ष्मणाभिनिविष्टा । प्रतिबन्धे तस्या अभिप्रायमाह **तत्परे**ति । सा हि भगवत्परा सर्वं चेद्भक्षयिष्यति तस्मै सर्वं दास्यिति । ततो मां दास्यति । अहमेव सर्वमिति । अहं तु भगवत्परेति न तत्र गमिष्यामीति तात्पर्यम् । किंच । अर्धेपि दत्ते ह्यामुष्मिकमपि फलं सेत्स्यतीति तस्य मर्यादा ब्रह्माण्डमेव सर्वमिति सांप्रतं ब्रह्माण्डविग्रहो भगवानेवेति द्वितीयमुष्टावेव विघ्नं कृतवती तदाह **परमेष्ठिन** इति । भगवतः पुरुषरूपत्वे लक्ष्मीरपि तथा जाता ॥१०॥

व्याख्यार्थ—पोटली में जो चाँवल थे, उन सब को खाने के लिए उनमें से दूसरी मुट्ठी लेली, तब लक्ष्मी ने रोका, कैसे रोका ? इस पर कहते हैं कि भगवान् के हस्त को पकड़ लिया, लक्ष्मी लक्ष्मणा में प्रविष्ट थी, प्रत्यक्ष में तो लक्ष्मणा ने हाथ पकड़ा था, किन्तु वास्तव में, लक्ष्मणा में लक्ष्मी ने प्रवेश कर हाथ पकड़ लिया था, इस प्रकार खाने में प्रतिबन्ध क्यों किया, जिसका अभिप्राय प्रकट करते हैं कि वह लक्ष्मी भगवत्परायण है उसने जान लिया, कि यदि सर्व आरोग लेंगे, तो सर्व सम्पत् उसको दे देंगे, पश्चात् मुझे भी दे देंगे, मैं ही सब कुछ हूँ, मैं तो भगवत्परायण हूँ अतः वहां न जाऊँगी । यह हाथ रोकने का भाव था । इस दूसरी मुट्ठी खाने में तो लक्ष्मी नहीं देते थे, तो दूसरी मुट्ठी खाने में प्रतिबन्ध क्यों किया ? दूसरी मुट्ठी आरोगते, तो आमुष्मिक फल मिल जाता, इसकी मर्यादा यह हुई, कि सर्व ब्रह्माण्ड आ गया (दे दिया) अब भगवान ही ब्रह्माण्ड विग्रह है, अर्थात् अपने को भी दे डालना चाहते हैं, अतः दूसरी मुट्ठी के आरोगने में प्रतिबन्ध डाल दिया, इसलिए 'परमेष्ठिनः' पद दिया है, भगवान् के पुरुषरूपपन में लक्ष्मी वैभी सी ब्रह्माण्ड की अर्धरूपा हुई ॥१०॥

आभास—तत्र ब्रह्माण्डविग्रहस्यैव संबन्धिनीति सुदाम्न एव तथात्वे पुनरनिष्टं स्यात् । तस्याः फलमात्रप्रतिबन्धकत्वशङ्कायां सा स्वाभिप्रायं निरूपयति **एतावताल**मिति ।

आभासार्थ—लक्ष्मी, ब्रह्माण्ड विग्रह पुरुषरूप भगवान् की सम्बन्धिनी है, यदि सुदामा को ब्रह्माण्ड रूप फल की प्राप्ति हो गई तो उसकी अर्धरूपा लक्ष्मी भी उसके आधीन हो जाएगी, जिससे लक्ष्मी का अनिष्ट होगा । अभी भगवान् के सङ्ग रहकर उनकी सेवा करती है, फिर दे देने पर, फलरूप से लक्ष्मी उसके (सुदामा के) आधीन हो जावेगी, यों अनिष्ट होगा अतः फल मात्र की यह प्रतिबन्ध हुई इस शङ्का को मिटाने के लिए अपना अभिप्राय 'एतावतालं' श्लोक से प्रकट करती है ।

श्लोक—**एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसंपत्समृद्धये ।**
अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥११॥

श्लोकार्थ—हे विश्वात्मा! भक्त पुरुष पर जब आप प्रसन्न होते हैं,तब आप उसको इतनी सम्पदा देते हैं, जिससे आपको इस लोक और परलोक में आनन्द आता है, अतः आपने अब जो एक मुट्ठी खाकर सम्पदा दी है इतनी ही काफी है ॥११॥

सुबोधिनी—एतस्यै दित्सितमल्पं मुष्टिमात्रस्यापि बहुदानसभवाद्, अत उक्तमेतावतेति । अन्यथा एतावदलमिति वदेत् । न च वक्तव्यं सर्वमेव दास्यामीति यतस्त्व **विश्वात्मा** । अन्येभ्यः

किं दास्यसि । अन्ये च तवावश्यका इत्यर्थः । सर्वा या धनादिसंपदः तासां समृद्धये । ननु मुष्टिमात्रेण ऐहिकी सर्वा संपत् सिद्धयेत् न त्वामुष्मिकी तत्राह **अस्मिन् लोकेऽथवामुष्मिन्निति** । लोकद्वये न तस्य भोगापेक्षा उत्तमाधिकारत् । किंचित् क्वचिद्भोगापेक्षा तदिहलोके परलोके वा भवतु । तत्र एक एव मुष्टिः प्रयोजकः समुच्चयस्तु न तस्यापि संमत इति । ननु मुष्टिमात्रेण कथं सर्वा संपत्तिस्तत्राह **त्वत्तोषकारणमिति** । एकमुष्टिभक्षणे प्रयत्न आरब्धः संपूर्णगिलनपर्यन्तमनुवर्तते तावता तद्रसेन तृप्यति । मुष्ट्यन्तरे पुनः प्रयत्न आरम्भणीयस्तेन च प्रीतिरन्या पुनर्भविष्यति । फलं च देयमेकं अतस्तव संतोषो द्वितीय एवमेव तिष्ठेदिति द्वितीयो नोत्पादनीय एवेत्यर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थ इसके दिए हुए अल्प, (केवल मुट्ठी भर चाँवल) के बदले में जो आपने दिया है, वह बहुत है, अतः इतने से ही बस करो. क्योंकि यही काफी है, नहीं तो 'एतावता अलं' के स्थान पर 'एतावत् अलं' कहते, यों भी न कहना, कि मैं इसको सब दे दूंगा, क्योंकि आप विश्वात्मा अर्थात् सर्व विश्व की आत्मा हो, यदि सब इसको दे दोगे तो दूसरों को क्या दोगे ? दूसरों को भी देना आपको आवश्यक है, जो सर्व धन आदि सम्पदाएँ हैं, उनकी समृद्धि के लिए, केवल एक मुट्ठी आरोगने से इस लोक की सर्व सम्पदा सिद्ध हो सकती है, न कि परलोक की भी, इस पर कहते हैं, कि इस लोक अथवा परलोक में इसको भोग की इच्छा ही नहीं है, क्योंकि यह उत्तमाधिकारी है, यदि किञ्चित् कभी भोग की अपेक्षा इस लोक वा परलोक में हो, तो भी, एक ही मुट्ठी उसमें प्रयोजक हो सकती है । समूह वा संग्रह तो इसको भी इच्छित (पसन्द) नहीं है, केवल, एक मुट्ठी से कैसे समस्त सम्पत्ति प्राप्त होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि इसमें आपकी प्रसन्नता ही कारण है । एक मुट्ठी के भक्षण करते हुए, प्रयत्न प्रारम्भ किया । जब तक सर्व निगल जाए तब तक जो रस प्रकट होता है उसके रस से वह तृप्त हो जाता है, फिर दूसरी मुट्ठी के भक्षण करते हुए प्रयत्न आरम्भ किया जाए उससे फिर अन्य प्रीति उत्पन्न होगी उसको फल तो एक ही देना है, अतः आपको सन्तोष होता है, जो दूसरी मुट्ठी आरोगोगे, तो भी सन्तोष ही आपको होगा अन्य कुछ नहीं, इसलिए दूसरे का उत्पादन नहीं करना चाहिए, अर्थात, दूसरी मुट्ठी आरोगने से आपको कोई विशेष लाभ नहीं इसलिए दूसरी मत आरोगो यों ही भावार्थ है ॥११॥

आभास—एवं भगवल्लक्ष्म्योः संवादमुक्तवा एकं फलं भविष्यतीति विनिर्धार्य ब्राह्मणस्य तत्फलप्राप्त्यर्थं स्वगृहगमनं वदन् भगवत्संनिधौ तस्य स्वाभिलषितमानन्दमाह **ब्राह्मणस्तां तु रजनीमिति** ।

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् और लक्ष्मी का संवाद कहकर एक ही फल होगा यह निश्चय कर ब्राह्मण को उस फल की प्राप्ति कराने के लिए अपने घर जाने को कहते हुए. भगवान् की संनिधि में उसको अपने अभिलषित आनन्द का वर्णन 'ब्राह्मणस्तां तु' श्लोक में करते हैं—

श्लोक - **ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे ।**
भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा ॥१२॥

श्लोकार्थ - ब्राह्मण तो, उस रात्रि में भगवान् के मन्दिर में रहा, वहाँ भोजन और पान कर ऐसा आनन्द पाया जिससे मानने लगा कि मैं मानो स्वर्ग में बैठा हूँ ॥१२॥

सुबोधिनी--**अच्युतमन्दिरे उषित्वा** तत्रैव वासं कृत्वा । **भुक्त्वा पीत्वा** नानाविधरस्यानि अमृतादीन्यपि । अलौकिकभोगसमर्थो भूत्वा । **मेने आत्मानं स्वर्गतं** स्वर्गत एव अमृतपानादिकं प्राप्नोति । भगवान् पूजार्थं किंचिदाभरणं वस्त्रादिकं गां च दत्तवानिति लक्ष्यते । यावता सुवेषेण गृहं गच्छति ।

व्याख्यार्थ—भगवान् के मन्दिर में निवास कर, अनेक प्रकार के अमृत आदि रस युक्त पदार्थों को खा और पीकर, अलौकिक भोग भोगने में समर्थ हो के, अपने को स्वर्ग में बैठा हुआ समझने लगा, क्योंकि स्वर्ग में ही अमृतपानादि प्राप्त होते हैं । भगवान् ने पूजा में कुछ आभरण, वस्त्रादि और गौ दी, यों जाना जाता है जिससे सुन्दर वेष धारण कर घर जावे ॥१२॥

आभास—ततः प्रातःकाले ततो निर्गत इत्याह **श्वोभूत** इति ।

आभासार्थ—अनन्तर प्रातः काल वहाँ से रवाना हुआ, यह 'श्वोभूते' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिनन्दितः ।**
जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः ॥१३॥

श्लोकार्थ—सर्वत्र जिसका प्रभाव प्रकट है, वैसे सुखरूप भगवान् से सुदामा ने दूसरे दिन बिदा ली, तब प्रभु ने प्रसन्नता से उसका अनुमोदन किया एवं उसके साथ, मार्ग में आगे जल की खाई तक चलकर बिदा दी, और जब वह रवाना हुआ तब भगवान् अपने घर लौट आए ॥१३॥

सुबोधिनी--समक्षादाने हेतुः **विश्वभावेनेति** विश्वस्मिन्नेवानुभावो यस्य यत्रैव गमिष्यति तत्रैव सर्वाविर्भावे संभवति किमर्थमितो नयनम् सख्यमेव पुरस्कृतमिति सखा बहु न ददाति । गच्छामीत्युक्ते **अभिनन्दितः** गन्तव्यमिति । ततः **स्वालयं** गतः भगवान् पुनः **पथि** उदकान्तमागत्य **नन्दितः** संतोषं प्रापितः ॥१३॥

व्याख्यार्थ— समक्ष देने में हेतु यह है, कि आपका प्रभाव समस्त विश्व में है, अतः जहाँ जावेगा वहाँ ही सर्व के आविर्भाव होते हुए ही सब कुछ प्राप्त होने का संभव है, तो फिर यहां से ले जाने की क्या आवश्यकता है । जिसके उत्तर में कहते हैं, कि भगवान् ने मित्रता का ही पुरस्कार किया है, इसलिए सखा बहुत नहीं देता है । सुदामा ने कहा मैं जा रहा हूँ इसका आपने अभिनन्दन किया, कि भले जाइये, पश्चात् सुदामा अपने घर को रवाना होने लगा, फिर उन (भगवान्) ने भी मार्ग में खाई तक आकर उसको सन्तोष कराया, अनन्तर घर लौट आए ॥१३॥

आभास—मध्ये तस्य भार्याभयाच्चिन्ता जाता तामाह **स चालब्ध्वेति** ।

आभासार्थ—ब्राह्मण को रास्ते में, भार्या अप्रसन्न होगी, इस भाव से चिन्ता होने लगी, जिसका वर्णन 'स चालब्धवा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान्स्वयम् ।**
स्वगृहान् व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः ।।१४।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने स्वयं इसको धन नहीं दिया और न इसने ही मांगा, भगवान् के दर्शन होने से आनन्दमग्न लज्जित होते हुए घर लौट आया ।।१४।।

सुबोधिनी--स्वतो भगवता न दत्तमिति **धनमलब्ध्वा स्वयं च न याचितवान्** सख्युः सकाशात् । तत उभयथापि लज्जितः **स्वगृहान्-गच्छन्** । **महद्दर्शनेन निर्वृतः** सुखित एव जातो न तु धनाभावेन दुःखितो जात इत्यर्थः ।।१४।।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने स्वतः धन नहीं दिया, अतः धन न मिलने से मित्र से स्वयं (खुद) ने मांगा नहीं, पश्चात् दोनों प्रकार लज्जित हो अपने घर जाने लगा । भगवान् के दर्शन हो जाने से आनन्द मग्न हो गया जिससे धन न मिलने का उसको थोड़ा भी दुःख न हुआ ।।१४।।

आभास—ततस्तस्य मनोरथो यथा जातस्तमाह **अहो ब्रह्मण्यदेवस्येति** षड्भिः ।

आभासार्थ—उसके बाद जैसे उसका मनोरथ पूर्ण हुआ, वह 'अहो ब्रह्मण्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया ।**
यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ।।१५।।

श्लोकार्थ—अहो ! ब्रह्मण्यदेव की ब्रह्मण्यता मैंने देखी, जो वक्षःस्थल में लक्ष्मी को धारण करने वाले भगवान् हैं, वह मुझ दरिद्री से आलिङ्गन पूर्वक मिले ।।१५।।

सुबोधिनी– धर्मिणा तु सिद्ध एवार्थः । धर्मैः कृत्वा सन्देह इति **ब्रह्मण्यदेवोपि** अवसरविशेषे ब्राह्मणस्य हितं करोति । अस्य तु अनवसरेपि तथाकरणादाश्चर्यम् । **मयैव ब्रह्मण्यता दृष्टा** तदाह **यद्दरिद्रतम** इति । **लक्ष्मीमुरसि बिभ्रता** भगवता-**दरिद्रतमः** द्रष्टुमप्ययोग्योहं **आश्लिष्टः** ।।१५।।

व्याख्यार्थ—धर्मी से तो अर्थ सिद्ध ही है, धर्मों से अर्थ सिद्ध होने में सन्देह है । यों ब्रह्मण्य देव भी विशेष अवसर होते हुए ब्राह्मण का हित करते ही हैं । इसका तो अवसर न होने पर भी वैसा करने में आश्चर्य है । मैंने ही भगवान् की ब्रह्मण्यता देखी, वह कहते हैं, कि जो मैं अत्यन्त दरिद्र हूँ, दरिद्रता के कारण देखने के भी योग्य नहीं हूँ तो भी उर में लक्ष्मी को धारण करने वाले मुझ से आलिङ्गन कर मिले ।।१५।।

आभास—एतदेव विशदयति **क्वाहं दरिद्र** इति ।

आभासार्थ—इसको विशदरूप से वर्णन करते हैं कि 'क्वाहं दरिद्रः ।'

श्लोक—**क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः ।**
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ।।१६।।

श्लोकार्थ—दरिद्र और पापी मैं कहाँ ? और लक्ष्मी के निवास भगवान् कहाँ ? मुझे केवल ब्राह्मण जाति जानकर मुझसे आलिङ्गन किया ।।१६।।

सुबोधिनी--अत एव **पापीयान्** दारिद्र्यव्याप्त-देहः दारिद्र्येण वा अनुमितपापवान् । कुत्र वा भगवान् **श्रीनिकेतनः** । अतः सखित्वसंभावनापि नास्ति अतुल्यत्वात् । तर्हि कथमालिङ्गनं कृतवा-नित्यत आह **ब्रह्मबन्धुरिति स्मेति** प्रसिद्धं । ब्राह्मणो माननीय इति ।।१६।।

व्याख्यार्थ—इस कारण ही पापी होने से, दरिद्रता से मेरी देह व्याप्त है, अथवा दरिद्रता से अनुमित (अनुमान किया हुवा) पापवाला हूँ वैसा मैं कहाँ ? और कहाँ लक्ष्मी के निवास भगवान् ? दोनों समान न होने से सखापन की सम्भावना भी नहीं हो सकती है, तो आलिङ्गन कैसे किया ? मैं ब्राह्मण हूँ यह प्रसिद्ध है, ब्राह्मण मान देने योग्य है इसलिए ही आलिङ्गन आदि किया है ।।१६।।

आभास—स हि ब्रह्मणो भावः स्वयं विष्णुरिति तुल्यतया आलिङ्गनं सर्वभोगदानं च कृतवानित्याह **निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के** इति ।

आभासार्थ—वह ब्रह्म का भाव स्वयं विष्णु है, इस प्रकार समानता, मान आलिङ्गन और सर्व प्रकार के भोग का दान दिया यह 'निवासितः श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा ।**
महिष्या वीजितः श्रान्तो बालव्यजनहस्तया ।।१७।।

श्लोकार्थ—प्रिया के सेवन करने योग्य पलङ्ग पर जैसे बन्धुओं को बिठाया जावे वैसे मुझे बिठाया, मार्ग के परिश्रम को मिटाने के लिए भगवान् की महिषी ने हाथ में चँवर लेकर वायु की ।।१७।।

सुबोधिनी- स्वस्थाने स्वयमेव योग्यो भवति न त्वन्यस्तत्रोपवेशनीयस्तत्राह **भ्रातरो यथेति** । अनेनानौचित्यमेव परिहृतम् । उपचारास्तु कृता एवेत्याह **महिष्या वीजित** इति । अदृष्टार्थतां निवारयति **श्रान्त इति** । **बालव्यजनहस्तयेति** राजोपचारः ।।१७।।

व्याख्यार्थ—अपने स्थान पर आपका विराजमान होना ही योग्य है न कि दूसरे का, इसलिए ही 'भ्रात रोयथा' जैसे बान्धव पद दिया है, यों कहकर इसका अनौचित्य मिटा दिया है । उपचार

तो किए ही हैं; पटराणी ने पवन की, क्योंकि मैं थका हुआ था यह जान उस थकावट को दूर करने के लिए चँवर हाथ में लेकर पवन की, चँवर से वायु का करना यह राजाओं का उपचार है ॥१७॥

आभास— ततो भगवतापि ब्राह्मण इति पूजित इत्याह **शुश्रूषया परमयेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ने भी ब्राह्मण जानकर पूजन किया, यों शुश्रूषया' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः ।**
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥१८॥

श्लोकार्थ—देवों के देव और ब्राह्मण ही जिनके लिए देव हैं वैसे भगवान् ने उत्तम सेवा करते हुए पांव दाबना आदि क्रियाओं से देव समान मेरा पूजन किया ।१८।

सुबोधिनी – **पादसंवाहनमेवादि**र्येषामिति ते उपचाराश्चतुःषष्टिः नृत्यगीताद्याः । ननु किमाधिक्यमेतावता तत्राह **देवदेवेने**ति । देवाः पूज्याः तेषामपि देवो भगवान् तेनापि **पूजितश्चे**त् किमवशिष्यते । ननु भगवान् हीनभावं किमित्यवलम्बते तत्राह **विप्रदेवेने**ति । विप्रा एव देवा यस्येति । **देववदि**त्यणुमात्रमपि स्वव्यापारस्तत्र निवारितः, स्नानादिकमपि भगवतैव कारितमिति ज्ञापितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—पांव दाबना जिनकी आदि (प्रारम्भ) है वैसे उपचार नृत्य गीत आदि चौसठ हैं इतनी अधिकता क्यों? तो कहते हैं कि आप देवों के देव हैं, देव पूजने योग्य है उन पूज्य देवों को भी जो पूजने योग्य हैं, तो शेष क्या रहा ? भगवान् ऐसे हैं, तो फिर हीन भाव का अवलम्बन क्यों करते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि, ब्राह्मण को अपना देव मानते हैं, अतः देव की तरह पूजा की, स्वल्प भी उसमें कमी नहीं की जैसे देव के पूजन में स्नान आदि देव को स्वयं अपने हाथों से कराया जाता है शरीर भी पोंछा जाता है, देवता कुछ नहीं करता है इसी तरह भगवान् ने भी अपने हस्तों से सुदामा ब्राह्मण की पूजा की ॥१८॥

आभास—एवं भगवन्तं स्तुत्वा धनादानात् अन्यथावचनं प्राप्नोति तन्निराकरणार्थं हेत्वन्तरमेवात्र स्थापयति **स्वर्गापवर्गयो**रिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् की स्तुति कर धन न देने से दूसरे प्रकार के वचन कहेगा उसके निराकरण के लिए दूसरा हेतु यहां स्थापित करते हैं 'स्वर्गापवर्गयोः' श्लोक में—

श्लोक—**स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि संपदाम् ।**
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—स्वर्ग, मोक्ष और पाताल लोक के सुख, ऐहिक सम्पत्ति और सर्व प्रकार की सिद्धिओं, इन पाँच प्रकार के फल का मूल कारण भगवान् के चरणारविंद की सेवा ॥१९॥

सुबोधिनी - पञ्चधा हि फलं जगति प्रसिद्धं लोकत्रयसुखं, मोक्षः, अणिमादिसिद्धयश्चेति । तेषां एकमेव हरेः पादसेवनं कारणम् । **पुंसां** सर्वेषामेव न तु कस्यचिदपि देवान्तरोपासकस्य हेत्वन्तरमस्तीति । **मूलं** मुख्यकारणम् ॥१९॥

व्याख्यार्थ—जगत् में तीन प्रकार के फल प्रसिद्ध हैं, १- तीन लोक के सुख, २- मोक्ष, ३- अणिमादि सिद्धियां, इनकी प्राप्ति का मूल कारण एक ही भगवान् के चरणों की सेवा है, सर्व ही पुरुषों का, न कि एक का, अन्य देवों के उपासकों के लिए दूसरा हेतु है यों, किन्तु मुख्य मूल कारण हरि की सेवा है ॥१९॥

आभास—नन्विदानीं चरणसेवार्थं गतस्तदा कथं न दत्तवान् पूर्वं चरणसेवा न कृतेति चेदिदानीं चरणसेवा कृतेति तस्याः कारणतैव न स्यात्। तत्राह **अधनोऽयं धनं प्राप्येति** ।

आभासार्थ—यदि कहो कि चरण सेवा कारण है तो पूर्व चरण सेवा नहीं की अब चरण सेवा के लिए भगवान् के पास गया, तब क्यों नहीं दी इसलिए चरण सेवा कारणता ही सिद्ध नहीं होती है, इसके उत्तर में 'अधनोऽयं धनं प्राप्य' श्लोक कहता है—

श्लोक—**अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् ।**
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददत् ॥२०॥

श्लोकार्थ – निर्धन धन पाकर अहंकार (घमण्ड) में आ जाएगा, फिर मुझे भूल जाएगा यों सोचकर, मुझे बहुत धन नहीं दिया, क्योंकि दयालु हैं, अतः मुझ पर दया की, जो धन नहीं दिया, यदि देते तो मैं अभिमान (घमण्ड) में आने से भगवत् स्मरण भूल जाता ॥२०॥

सुबोधिनी - धनेनावश्यं मदो भवेत् मदेन च विस्मृतात्मा **मां** सुतरामेव **न स्मरेत्** । ततः स्मरणाभावे सर्वनाशः । **इति कारुणिको** भगवान् **मे भूरि धनं नाददत्** अल्पं तु दत्तवानिति सूचितम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ - धन से मद अवश्य होता है, मद से अपनी तथा प्रभु की विस्मृति हो जाती है, इसको धन दूँगा तो मुझे भूल जाएगा, मुझे भूल जाने से इसका सब नाश हो जाएगा, अतः दयालु भगवान् ने बहुत ऐश्वर्य नहीं दिया, स्वल्प तो दिया, इससे यों सूचित किया है ॥२०॥

आभास—उपसंहरन्नग्रिममाह **इति तच्चिन्तयन्निति** ।

आभासार्थ—'इति चिन्तयन्' श्लोक से उपसंहार करते हैं—

श्लोक—इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्तो निजगृहान्तिकम् ।
सूर्यानलेन्दुसंकाशैर्विमानैः सर्वतो वृतम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार विचार करता हुआ वह ब्राह्मण अपने गृह के पास आ पहुंचा । वहाँ देखे तो सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा के समान प्रकाशमान विमान चारों ओर शोभ रहे हैं ॥२१

सुबोधिनी—**तत्प्रमेयं चिन्तयन् निजगृहस्यान्तिकं प्राप्तः** । अपूर्वं दृष्टवानित्याह **सूर्यानलेन्दुसंकाशैरिति** द्वाभ्याम् । उपरि परितो मध्ये च वर्णयति । सूर्यस्य दिवसेप्रकाशः, अग्नेः सन्ध्यायां, चन्द्रस्य च रात्रौ, विमानानि तु कालत्रयेऽपि शोभायुक्तानि । एतादृशैर्मनोभिलषितसुखावहैः **सर्वतो** व्याप्तम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—उस प्रमेय को विचारता हुआ अपने गृह के पास आ पहुँचा वहां आगे जो न देखा था वह नवीन देखा, ऊपर, चारों तरफ और मध्य में क्या था ? इसका वर्णन करता है, सूर्य का दिन में प्रकाश होता है, अग्नि का सन्ध्या के समय उजाला होता है, चन्द्रमा का रात्रि को प्रकाश होता है, वहाँ विमान तो तीनों कालों में भी शोभा वाले थे, मन के अनुकूल सुख देने वाले विमानों से चारों तरफ घिरा हुवा था ॥२१॥

आभास—ततः परितः शोभामाह **विचित्रोपवनोद्यानैरिति** ।

आभासार्थ—इसके बाद चारों तरफ जो शोभा हो रही थी उसका 'विचित्रो' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः ।
प्रफुल्लकुमुदाम्भोजकल्हारोत्पलवारिभिः ॥२२॥

श्लोकार्थ—जिनमें अनेक पक्षियों के कुल कलख़ कर रहे हैं वैसे विचित्र उपवन वाला, प्रफुल्लित कुमुद, कल्हार और उत्पल जिसमें शोभा दे रहे हैं वैसे जलाशयों वाला ॥२२॥

सुबोधिनी—**उपवनं** फलप्रधानं, **उद्यानं** पुष्पप्रधानम् । अवान्तरभेदपरिग्रहार्थं बहुवचनम् । **कूजद्द्विजानां** कूजद्द्विहङ्गानां **कुलानि** जातिविशेषाः **तैराकुलानि** । फलपुष्पसमृद्धिनिरूपिता । तामसराजसभावान्निरूप्य सात्त्विकान् भावानाह **प्रफुल्लानि कुमुदानि** येषु वारिषु तैः पुष्करिणीस्थैः सर्वतो वृतम् । **कुमुदं** रात्रिविकासि अव्यवस्थितं, **अम्भोजकल्हारोत्पलानि** दिनसन्ध्यारात्रिविकासयुक्तानि नियतानि ॥२२॥

व्याख्यार्थ—जिसमें फलों की प्रधानता होती है, उसे उपवन कहते हैं और जिसमें पुष्पों की प्रधानता होती है, उसे उद्यान कहते हैं, बहुवचन देने का तात्पर्य है, कि इनके अन्य भी प्रकार हैं—कलरव करने वाले अनेक पक्षियों के कुलों से व्याप्त यों कहकर फल और पुष्पों की समृद्धि बताई, इस प्रकार तामस राजस भावों का निरूपण कर, सात्विक भावों को कहते हैं—पोखरिणी जलों में खिले हुए कुमुदों से व्याप्त है । 'कुमुद' रात्रि में विकसित होते हैं और व्यवस्थित नहीं, कमल दिन को, कल्हार सन्ध्या को और उत्पल रात्रि को नियत विकास पाते हैं ॥२२॥

आभास—मध्यं वर्णयति **जुष्टं स्वलंकृतैः पुम्भिरिति** ।

आभासार्थ—मध्यका 'जुष्टं स्वलङ्कृतैः' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—जुष्टं स्वलंकृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षीभिः ।
किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ॥२३॥

श्लोकार्थ—शृङ्गार किए हुए पुरुष व मृगनयनी नारियों से सुशोभित स्थान देख विचारने लगा कि यह क्या? यह स्थान किसका है? क्या यह स्थान वह ही है, जहाँ मेरा गृह था; तो फिर यों कैसे हो गया ? ॥२३॥

सुबोधिनी—**स्त्रीभिश्च हरिणाक्षीभिः** परमसौन्दर्ययुक्ताभिः । एवंविधं गृहान्तिकस्थानं दृष्ट्वा गन्धर्वनगरादिशङ्क्या अलौकिकं किंचित्संभावयति **किमिदमिति** । इदं परिदृश्यमानं गन्धर्वनगरमायावैभवादीनामन्यतरत् आहोस्विद् सत्यमेवेति । ततः स्थिरतां पदार्थानां दृष्ट्वा स्वस्यैव भ्रमात् स्थानान्तरगमनं संभावयति **कस्य वा** स्थानान्तरमिदमिति । ततोऽपि परितो भागान् दृष्ट्वा मदीयमेवैतत् **स्थानमिति** निश्चित्य **तदतिहीनमस्मद्गृहं इदमेतादृशं कथमभूदिति** चिन्तितवान् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—परम सौन्दर्य से युक्त मृगनयनी स्त्रियोंवाला इस गृह का भीतरी भाग देखकर, गन्धर्वनगरादि की शङ्का से विचार मग्न हो कुछ अलौकिक की संभावना समझ कहने लगा, कि यह क्या ? यह जो मैं देख रहा हूँ वह, गन्धर्व नगर के माया का वैभव आदि में से एक है ? वा सत्य ही है, पश्चात् पदार्थों की स्थिरता देख कहने लगा कि- मैं ही भ्रम से दूसरे स्थान पर तो नहीं आ गया हूँ । तो यह किसका दूसरा स्थान है ? पश्चात् चारों ओर के भागों को देखकर निश्चय किया कि यह स्थान तो मेरा ही है, किन्तु वह मेरा घर तो बहुत पुराना और साधारण था, वैसा यह ऐसा सुन्दर कैसे हो गया ? यों विचार करने लगा ॥२३॥

आभास—एवमाश्चर्याविष्ट एव तस्मिन् तन्निर्णयार्थं कौतुकान्तरमाह **एवं मीमांसमानमिति** ।

आभासार्थ इस प्रकार अचम्भे में पड़कर उसका निर्णय करने के लिए 'एवं मीमां समानं' श्लोक में दूसरा कौतुक कहते हैं—

श्लोक—**एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः ।**
प्रत्यगृह्णन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ॥२४॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार वह ब्राह्मण विचार ही कर रहा था, तो इतने में देव समान कान्ति वाले पुरुष और स्त्रियाँ बहुत जोर से गाती-बजाती उस महाभाग्यवान् को लेने के लिए सामने स्वागत करने लगे ॥२४॥

सुबोधिनी—पूजितविचारवचनो **मीमांसा**-शब्दः एवमुत्कृष्टार्थविचारकं पुरुषा **नार्यश्च गीत-वाद्येन भूयसा प्रत्यगृह्णन्** । नन्वयं पिशाचसदृशः, गीतवाद्यादिकं कथं भजते योग्यत्वाभावादित्याशङ्क्याह **महाभागमिति** परमभाग्ययुक्तम् । तस्मिन् भगवत्स्वरूपदेवेन्द्रावेशो जातः । अतो योग्यरूप एव सन् नृत्यादिभिः पुरस्कृतो जात इत्यर्थः ॥२४॥

व्याख्यार्थ मीमांसा शब्द का भावार्थ है कि ऐसे विचार के वचन हो जो पूजित हो अर्थात् उत्कृष्ठ विचार वाले वचन हो, यों उत्कृष्ठ विचार करने वाले को पुरुष तथा स्त्रियां गीत गाते वाद्य बजाते हुए बधावने के लिए आए, यह तो पिशाच जैसा दिखता है उसके लिए गीत गाने और बाजे बजाने का कार्य कैसे किया जाता है ? क्योंकि वैसी योग्यता नहीं है, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'महा भाग' पद दिया है कि यह जो पिशाच जैसा देखने में आता है वह महान् भाग्यवान् है, उसमें भगवान् के स्वरूप और देवेन्द्र आवेश हैं, अतः योग्यरूप वाला है जिससे नृत्य आदि से इसका स्वागत हुआ है ॥२४॥

श्लोक—**पतिमागतमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षातिसंभ्रमात् ।**
निश्चक्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात् । २५॥

श्लोकार्थ—पति के पधारने के समाचार सुन पत्नी अति हर्षित हो, बड़े संभ्रम के साथ, जैसे मूर्तिमति लक्ष्मी घर से निकलती है, वैसे शीघ्र घर से निकलने लगी ॥२५॥

सुबोधिनी—ततः पूर्वं तस्मिन्नेव स्थाने अमरावती प्रादुर्भूता, तस्यां च इन्द्रपत्न्याविर्भावः तेन परमसौन्दर्यं प्राप्तवती, ततो भगवता चिपिटभक्षणोत्तरक्षण एव तादृशीमवस्थां प्राप्ता, कदा पतिरायास्यतीति पतिमेव चिन्तयाना इदानीं **पतिमागतमाकर्ण्य पत्नी** तदेकनिष्ठा **उद्धर्षो**-त्फुल्लनयना **अतिसंभ्रमात्सर्वाभरणभूषिता सर्वै-श्वर्ययुक्ता तूर्णं गृहान्निश्चक्राम** । निष्क्रामन्तीं तां स्थानं च वर्णयति **रूपिणी श्रीः आलयादिवेति** । क्षीरसमुद्रात् कमलालयाद्वा रूपिणी श्रीः कृतावतारा लक्ष्मीः यथा निर्गच्छति ॥२४॥

व्याख्यार्थ पश्चात् सुदामा के आने से पहले ही उसके स्थान पर स्वर्ग-पुरी प्रकट हो गई और उसकी स्त्री में इन्द्राणी का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे वह परम सुन्दरी हो गई । भगवान् ने जिस क्षण में तण्डुल की एक मुट्ठी खाई, उसी समय ऐसी अवस्था हो गई । उसी काल से पति कब पधारेंगे

यों पति का ही चिन्तन कर रही थी, अब पति का आगमन सुन, उस एक में ही स्थिर बुद्धिवाली, वह हर्ष के कारण प्रफुल्लित नेत्र वाली हो गई । बहुत जल्दी सर्व आभरणों से भूषित होकर, सर्व प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त, झटपट घर से निकली, निकलती हुई उसका और स्थान का वर्णन करते हैं मानों क्षीर समुद्र में से कमल रूप गृह से अवतार लेकर लक्ष्मी बाहर निकलकर आ रही है ॥२५॥

श्लोक—**पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना ।**
मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे ॥२६॥

श्लोकार्थ—पतिव्रता पति को देखकर प्रेम में गद्गद हो गई, जिससे नेत्र अश्रु-पूर्ण हो गए, आँखें बन्द कर बुद्धिपूर्वक पति को प्रणाम किया और मन से आलिङ्गन किया ॥२६॥

सुबोधिनी—ततः **पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा** मदर्थं भर्त्रा क्लेशः प्राप्त इति चिरात् दूरादागत इति **प्रेमोत्कण्ठा** सती **अश्रुलोचना** जाता । ततो लज्जावशादपशकुनभयाद्वा **मीलिताक्षी** जाता । ततो यथोचितपूजां कृतवतीत्याह **बुद्ध्याऽनमदिति** । विवेकवत्या बुद्ध्यैव भर्तृनमस्कारं कृतवती । **मनसा** चालिङ्गनमेतावदेव च कर्तव्यम् २६॥

व्याख्यार्थ—पतिव्रता पति को देख मन में विचार करने लगी, कि मेरे लिए ही पति ने इतना क्लेश सहा है, इसलिए इतने दिनों के बाद दूर से आए हैं, यों प्रेम में गद्गद होने से उसके नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए । पश्चात् लज्जा के वश से अथवा नेत्रों में आए हुए जल को अपशकुन जान आँखे बन्द करली, पश्चात् यथोचित पूजा करने लगी विवेक वाली ने बुद्धि से प्रणाम किया, मन से आलिङ्गन किया, इतना ही करना योग्य है ॥२६॥

आभास—ततो ब्राह्मणः पत्नीं दृष्ट्वा विस्मितो जात इत्याह **पत्नीं दृष्ट्वेति** ।

आभासार्थ—अनन्तर ब्राह्मण पत्नी को देखकर अचम्भे में पड़ गया यों 'पत्नीं दृष्ट्वा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**पत्नीं दृष्ट्वा प्रस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव ।**
दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः ॥२७॥

श्लोकार्थ—विमान में बैठी हुई अप्सरा के समान दैदीप्यमान, कण्ठ में सुवर्ण के आभूषण पहने हुई दासियों के मध्य में भासमान अपनी स्त्री को देख, उस ब्राह्मण को बहुत विस्मय होने लगा ॥२७॥

सुबोधिनी—पूर्वापेक्षया प्रकर्षेण स्फुरन्तीं **देवीं** देवतामिव वस्त्रालंकरणादिभिः पूजितां तस्यां तेजोविशेषं भावादिकं **दृष्ट्वा** तामुत्प्रेक्षते **वैमानिकीमिवेति** । यथा विमानस्था अप्सरा भवति ।

ततोप्यतिशयमाह **दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीमिति** । दासीनां विशेषणं रसज्ञीत्वाय । तासां मध्ये विभान्तीं शोभमानामेतादृशीं दृष्ट्वा, स ब्राह्मणो **विस्मितः**, भगवच्चरित्रमेतादृशमलौकिकमिति ।।२७।।

व्याख्यार्थ—पूर्व की अपेक्षा विशेष शोभा वाली देवी को, देवता की तरह वस्त्रालङ्कारों से पूजित उसमें विशेष तेज तथा भावादि देख यों मानने लगे कि यह विमान में स्थित अप्सरा सम है, किन्तु उससे भी विशेष है क्योंकि सुवर्ण की मालाओं को धारण करर वाला अनेक दासियों के मध्य में शोभायमान है ऐसी अवस्था में पत्नी को देख अचम्भे में पड़ गया, यों जान गया कि यह सब भगवान् के अलौकिक चरित्र है ।।२७।।

श्लोक—**प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम् ।**
मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ।।२८।।

श्लोकार्थ—वह प्रसन्न हो, अपनी स्त्री के साथ अपने गृह में प्रविष्ट हुआ, वह गृह इन्द्र के भवन के समान सैंकड़ों मणि स्तम्भों से शोभित था ।।२८।।

सुबोधिनी—ततो भगवता कृपयैतद्दत्तमिति निश्चित्य **प्रीतः** सन् **तया युक्तो निजमन्दिरं प्रविष्टः** । तन्मन्दिरं वर्णयति **मणिस्तम्भशतोपेतमिति** । एकमेव भवनं **मणिस्तम्भशतेनोपेतं** यत्र पत्न्या सह स्थितिः : एवं लोकोत्तरं तदित्युक्त्वा सामान्यतः परमोत्कर्षमाह **महेन्द्रभवनं यथेति** ।।२८।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् यों निश्चय किया कि, यह सब भगवान् ने कृपा कर दिया है, जिससे प्रसन्न हो पत्नी के साथ अपने मन्दिर में प्रविष्ट हुआ उस मन्दिर का वर्णन करते हैं कि, भवन तो एक ही था जहाँ पत्नी के साथ स्थिति थी किन्तु उसमें एक सौ, मणियुक्त स्तम्भ लगे हुए थे, इस प्रकार वह लोक से उत्कृष्ट था यों कहकर सामान्य रूप से उसकी उत्कृष्टता कहते है कि जैसे महेन्द्र का भवन होता है वैसा ही यह भी है ।।२८।।

आभास—तत्रत्यान् पदार्थान् वर्णयति **पयःफेनेति** त्रिभिः ।

आभासार्थ—'पयः फेननिभा' श्लोक से तीन श्लोकों में वहाँ के पदार्थों का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।**
पल्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ।।२९।।

श्लोकार्थ—दूध के फेन के समान शय्या, सुवर्ण से मँडे हुए हाथी दाँत के पलङ्ग, सोने के डण्डे वाले चँवर और पंखे ऐसे अन्य उपकरण भी थे ।।२९।।

सुबोधिनी—शयनोपयोगीनि आसनोपयोगीनि गृहोपयोगीनि च वस्तूनि वर्ण्यन्ते **पयःफेननिभा**. शुभ्राः उत्तुङ्गाः **शय्याः** । दन्तनिर्मिताः **पल्यङ्काः रुक्मपरिच्छदाः**सुवर्णेन दन्ता मध्ये योजिताः । **हेमदण्डानि चामरव्यजनानि** चकारादन्यान्यपि शयनसाधनानि ।।२९।।

व्याख्यार्थ—सोने के काम में आने वाली, बैठने के योग्य, गृह के उपयोगी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है, दूध के फेन के समान उच्च फूला हुआ, साफ बिछोना, हाथी दाँत से बने 'पलङ्ग' वे दाँत मध्य में सुवर्ण से जड़े हुवे थे, सुवर्ण के दण्डों वाले चंवर और पंखे थे, 'च' पद से यह बताया है दूसरे भी शयन के साधन थे ।।२९।।

श्लोक—**आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च ।**
मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च ।।३०।।

श्लोकार्थ—कोमल बिछौनों वाले सोने का सिंहासन और मोतियों की झालरीदार दैदीप्यमान चँदवे शोभ रहे थे ।।३०।।

सुबोधिनी—**आसनान्युपवेशनस्थानानि, हैमानि** सुवर्णमयानि **मृदुपट्टसन्नद्धानि आस्तरणानि** मृदुपट्टनिर्मितानि चकारादन्यानि सिंहासनोपयोगीनि । तदुपरि **मुक्तादामविलम्बीनि** चन्द्रातपानि, **द्युमन्ति** च विचित्राणि कान्तियुतानि ।।३०।।

व्याख्यार्थ—बैठने के लिए जो आसन थे वे सब सोने के बने हुए थे, उनके ऊपर जो बिछोने धरे थे, वे सब कोमल पट्ट वस्त्रों से बने हुए थे, 'च' पद से बताया है कि अन्य प्रकार के भी सिंहासन के योग्य बिछौने थे, उनके ऊपर मोतियों की मालाओं की झालरें थीं, व ऐसे हासिये थे जो विचित्र कान्ति वाले चमक रहे थे ।।३०।।

आभास—गृहभित्तीर्वर्णयति **अच्छस्फटिकुड्येष्विति** ।

आभासार्थ—घर की दीवारों का 'अच्छस्फटिक' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक **अच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।**
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ।।३१।।

श्लोकार्थ स्वच्छ स्फटिक मणियों की और मरकत मणियों की भींतों में रत्न के दीप दैदीप्यमान हो रहे थे तथा स्त्री-रत्न शोभ रहे थे ।।३१।।

सुबोधिनी—स्फटिकमया भित्तयः **महामरकतमयाश्च** तेषु सर्वत्र **रत्नप्रदीपा आभान्ति** । **ललना** स्त्रियो **रत्नसंयुताः** चित्रमया रत्नैर्विरचिताः सत्यः स्त्रिय एव वा ।।३१।।

व्याख्यार्थ—घर की भींत स्फटिकमणी तथा महा मरकत मणियों से जड़ी हुई थी, उनमें सर्वत्र रत्नों के दीप शोभा दे रहे थे, भींतों में स्त्रियों की आकृतियां चित्रित थी तथा रत्नों से बनाई हुई स्त्रियों की मूर्त्तियाँ खड़ी थीं अथवा रत्नों से सुशोभित सत्य स्त्रियाँ वहाँ घूम रही थी ।।३१।।

आभास—एवं दृष्ट्वा ब्राह्मणस्य या बुद्धिस्तामाह **तां विलोक्य ब्राह्मण** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार देखकर ब्राह्मण की जैसी बुद्धि हुई, जिसका 'तां विलोक्य' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**तां विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसंपदाम् ।**
तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मण वहाँ सर्व प्रकार की सम्पदाओं की समृद्धि देखकर, सावधान हो, विचार करने लगा कि कारण के बिना इतनी समृद्धि मेरे पास क्यों ? ।।३२।।

सुबोधिनी—किं **सर्व संपदां समृद्धीर्दृष्ट्वा** तस्य हेतुं **तर्कयामास** । **निर्व्यग्रः** सावधानः । ननु हेतुः प्रसिद्ध एव भवति किमिति चिन्तनं तत्राह **स्वसमृद्धिमहैतुकी**मिति ।।३२।।

व्याख्यार्थ—सर्व सम्पदाओं की समृद्धि देखकर इसके आने का क्या कारण है ? सावधान हो के इसका विचार करने लगा, कारण प्रसिद्ध है, विचार की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहता है कि मेरे पास समृद्धि के आने का कोई कारण नहीं है ।।३२।।

आभास—लोकावगतहेत्वभावात् तत्र बहून् हेतून् उत्प्रेक्ष्य निराकरोति **नूनं बतैतदिति** ।

आभासार्थ—लोक में प्रसिद्ध हेतु के अभाव से वहां बहुत हेतुओं का पूर्ण विचार कर 'नूनं बतैतन्मम' श्लोक से निराकरण करता है—

श्लोक—**नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।**
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ।।३३।।

श्लोकार्थ—निश्चय से मन्द भाग्य और जन्म से दरिद्री मुझको ऐसी सम्पदा मिलने का कारण महाविभूतिमान् भगवान् की कृपा दृष्टि बिना दूसरा कोई हो नहीं सकता है ।।३३।।

सुबोधिनी—भगवदिच्छा, अदृष्टं, कालो, ग्रहाः, भगवानेव वेति । तत्रान्ये बाधितविषया इति भगवानेव दृष्टः कारणमिति निर्णयमाह **एतत्परिदृश्यमानं मम दुर्भगस्य** कथम् । **बतेति** हर्षे । कदाचिद्भाग्योदयेन भवतीति चेत्तत्राह **शश्वद्दरिद्रस्येति** । सर्वदा दरिद्रोऽहं कथमेकदैव सुसमृद्धो जातः न ह्यकस्मादेवं भाग्यानि भवन्ति । अतो **महाविभूतेर्भगवत एवावलोकनादृते अन्यो हेतुर्नैवोपपद्येत** । लोकेष्वेवं श्रूयते । अकस्माल्लक्ष्म्या दृष्टो महासमृद्धो जात इति भगवांश्च महाविभूतिः महत्यो विभूतयो लक्ष्मी सदृश्यो यस्येति । अत्रोपपत्तिमप्याह **यदूत्तमस्येति** । यादवाः पूर्वमत्यप्रयोजकाः स्थिताः इदानीं भगवद्दृष्ट्या अतिसमृद्धाः, दृष्टा उपपत्तिर्यदूत्तम इति ।।३३।।

व्याख्यार्थ—इस सम्पदा के मिलने के कारण भगवदिच्छा, अदृष्ट, काल, ग्रह अथवा भगवान् ही हो सकते हैं । उनमें भगवान् के सिवाय अन्य कारणों का बाध हो सकता है इसलिए इसकी प्राप्ति में देखा जाय, तो भगवान् ही कारण है, जिसका निर्णय कहता है, कि इतना जो यह सम्पदा प्रत्यक्ष देखी जाती है, वह मुझ अभागे को कैसे मिल सकती है ? 'बत' पद हर्ष वाचक हैं, यदि कहो कि कदाचित् भाग्य से भी सम्पदा की प्राप्ति हो जाती है, तो इसके उत्तर में कहता है कि मेरा भाग्य कहां, मैं तो निरन्तर सर्वदा ही दरिद्र हूँ, कैसे यकायक ही विशेष सम्पत्तिवान् बन गया, अचानक इस प्रकार भाग्य नहीं बढ़ जाते हैं, अतः महाविभूतिवान् भगवान् की ही कृपा दृष्टि के सिवाय दूसरा कोई कारण बन नहीं सकता हैं । लोकों में यों सुना जाता है, कि अचानक लक्ष्मी की जिस पर दृष्टि पड़ी वह बहुत सम्पतिवान् बन गया जब एक विभूति लक्ष्मी की दृष्टि से बहुत सम्पत्ति स्वतः आ जाती है तो लक्ष्मी जैसी अनेक विभूतियाँ जिनके पास हैं, वैसे प्रभु की दृष्टि पड़ने पर क्या नहीं हो सकता है ? अर्थात् सर्वसिद्धि होने में कोई संशय नहीं है, अतः उनकी कृपा दृष्टि से ही यह सम्पदा प्राप्त हुई है,इसमें उपपत्ति(हेतुपूर्वक युक्ति)बताता है कि आप यदूतम हैं, आपके ही यदुकुल में प्राकट्य होने से, जो यादव पहले अत्यन्त साधारण दशावाले थे, वे अब भगवद्दृष्टि से अतिशय सम्पत्तिमान् हो गये हैं यह देखी हुई उपपत्ति, यदूत्तम है ।।३३।।

आभास—ननु भगवांश्चेद्दद्यात् तर्हि कथं न वदेत् अतः संदेह इति चेत्तत्राह **नन्वब्रुवाण** इति ।

आभासार्थ—यदि भगवान् ने दी है, तो आपको क्यों नहीं कहा ? इससे संदेह है, इस पर 'नन्वब्रुवाणो' श्लोक कहकर संदेह मिटाता है—

श्लोक—**नन्वब्रुवाणो दिशतेऽसमक्षं याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः ।**
पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाणो दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ।।३४।।

श्लोकार्थ—दाशार्हों (दाशार्हवंशी) में श्रेष्ठ कृष्ण मेरा मित्र है । वह बहुत भोजन करने वाला है । जैसे मेघ स्वयं देखकर जब समझता है कि कृषक की कृषि को जल की आवश्यकता है, तब बिना कहे वर्षा कर देता है; वैसे ही यह मेरा मित्र न कह कर याचक को बिना कहे बहुत दे देता है ।।३४।।

सुबोधिनी—**नन्विति** निश्चये । भगवानेव **याचिष्णवे** एतद्दिशते आदिशति प्रदर्शयति प्रयच्छति इत्यर्थः परम**समक्षं अब्रुवाणश्च** इयं प्रयच्छामीति नोक्तवान्, स्वसमक्षं च न दत्तवान् । एतावान् परं विशेष इत्यर्थः । नन्वेतादृशं दातृस्वरूपं न क्वाप्युपलक्षितमिति चेत्तत्राह **पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाण** इति । यथा पर्जन्यः कृषीवलानात्मैकशरणान् निदाघपीडितान् दृष्ट्वा कदाचिच्छयानेष्वेव तेषु तत्सस्यं सर्वमेवाप्यायति । एवं भगवानपि मां तथाविधमेवमाप्यायितवान् तद् भक्तानां स्वरूपं स्वयमेवेक्षमाणः । ननु तथापि यावदपेक्षितं तावदेव दद्यात्कथं बहु दत्तवानित्याशङ्क्याह **भूर्यपीति** । यतः स्वयं **भूरिभोजः** । ननु केचि-

त्स्वयं भोक्तारोऽपि परस्मै न बहु प्रयच्छन्तीति चेत् तत्राह दाशार्हकाणामृषभ इति । दाशार्हका दाशार्हाः यादवविशेषाः ते सेवकसमृद्धिवाञ्छायुक्ताः तेषामधिपः स्वसेवकान् दाशार्हांस्तथा कृतवानिति । ननु ते तस्य संबन्धिन इति चेत् तथाहमपीत्याह **सखा** म इति ।।३४।।

व्याख्यार्थ—निश्चय से, भगवान् ही याचक को देते हैं, किन्तु सामने कहकर नहीं देते हैं इसलिए समक्ष नहीं दिया, इतनी विशेषता है, यदि कहो कि ऐसा दाता स्वरूप कहीं भी नहीं देखा है तो इसका उत्तर यह है, कि जैसे मेघ जब देखता है कि, कृषकों का मेरे सिवाय अन्य कोई शरण नहीं है यह गर्मी से पीड़ित हैं तब उनके सोते हुए ही बिना कुछ उन्हें कहे हुए उनका सारा खेत पानी से भर देता है, इसी प्रकार भगवान् ने भी वैसे ही मुझे भर दिया, भक्तों का वह स्वरूप स्वयं ही देख लिया, ठीक है, तो भी आपको जितना चाहिए था उतना ही देता यह तो बहुत दिया है, जिसके उत्तर में कहा कि आप (भूरिभोज) हैं अर्थात बहुत भोक्ता है अतः स्वल्प कैसे देंगे ? थोड़े देने से प्रसन्न नही होते हैं, कितने ही स्वयं बहुत भोक्ता होते हुए भी दूसरे को बहुत नहीं देते हैं, जिसके उत्तर में कहता है, कि दाशार्ह जो यादव विशेष हैं उनमें श्रेष्ठ है। वे सदैव सेवकों की समृद्धि ही चाहते हैं अतः अपने सेवक, दाशार्हों को सम्पत्तिमान् बना दिए, यदि कहो कि वे उनके सम्बन्धी थे, इसलिए उनको बहुत सम्पत्ति दी, तो मैं भी मित्र होने से सम्बन्धी हूँ ।।३४।।

आभास—अन्यदपि भगवद्गुणं स्मृत्वा धीरोदात्तो भगवानेवैवं दातुं समर्थ इति निश्चिनोति **किंचित्करोतीति** ।

आभासार्थ—भगवान् के दूसरे गुण भी स्मरण कर, धीरे और उदात्त भगवान् ही हैं, अतः इस प्रकार देने में वही समर्थ हैं, यों 'किञ्चित् करोति' श्लोक से निश्चय करता है।

श्लोक—**किंचित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं**
सुहृत्कृतं फल्गवपि भूरिकारी ।
मयोपनीतं पृथुकैकमुष्टि
प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा ।।३५।।

श्लोकार्थ—भगवान् अपने अधिक दिए हुए को भी स्वल्प मानते हैं और भक्त के स्वल्प को भी बहुत मान लेते हैं, मेरी लाई हुई चावलों की एक मुट्ठी को प्रेमयुक्त होकर स्वयं ग्रहण की; क्योंकि महात्मा हैं ।।३५।।

सुबोधिनी—यो ह्यल्पं प्रयच्छति स लज्जया अनुक्त्वा प्रयच्छति । तथा प्रकृते अनुक्त्वा प्रयच्छन्नल्पत्वं ज्ञापयति, अतः **स्वदत्तमुर्वपि किंचित्करोति** । **सुहृत्कृतमस्मन्नीतं** तु तर्पयत्यङ्ग मां विश्वम्' इत्यादिवाक्यैः **फल्गवपि** मुष्टिचतुष्टयात्मकमुपायनं **भूरिकारी** । तत्प्रकटीकरोति **मयोपनीतमिति** । भगवानिन्द्रादिभिरप्यानीतमेवममृतं न भक्षयति यथा **पृथुकानामेकमुष्टिं** भक्षितवान् । अतोऽमृतापेक्षयापि पृथुकानां मानदानत्वाद्भूरिकारित्वम् । तत्रापि **प्रीतियुतः** परमापेक्षितपदार्थं प्राप्त इव । स्वयं तु **महात्मा** कोटिब्रह्माण्डनायकः ।।३५।।

व्याख्यार्थ—जो स्वल्प देता है, उसको लज्जा आती है जिससे वह बिना कुछ कहे दे देता है। वैसे प्रकृत विषय में बिना कहे देकर, इतनी बड़ी सम्पदा का भी भगवान् अल्पत्व प्रकट करते हैं। मित्र का किया हुआ अर्थात् मैं जो भेंट ले गया तो उसको 'तर्पयत्यङ्ग मां विश्वं'[1] इत्यादि वाक्यों से चार मुट्ठी भर थोड़ी सी भेंट को भी बहुत मान लिया है, वह 'मयोपनीतं' से प्रकट करता है, भगवान् इन्द्रादिक देवों द्वारा अमृतादि भेंट लाई गई को भी इस प्रकार नहीं आरोगते हैं जैसे कि मेरी भेंट के चावलों की एक मुट्ठी आरोगी है, अतः अमृत की अपेक्षा से भी चावलों को मान देने से, वे भूरि (बहुत) हो गये हैं, उसमें भी प्रेम पूर्वक प्राप्त करने से व आरोगने से परम अपेक्षा वाली मेरी भेंट सिद्ध कर दिखाई है यों तो आप महात्मा कोटि ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं ।।३५।।

आभास—तस्मादेवं भक्तवत्सलः कोऽपि नास्तीति तत्सम्बन्धा मम बहवो भवन्त्विति प्रार्थयते **तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्रीति** ।

आभासार्थ—इस कारण से ऐसा भक्तवत्सल कोई भी नहीं है, उनके साथ मेरे सम्बन्ध बहुत हों, इस 'तस्यैव मे' श्लोक से प्रार्थना करता है—

श्लोक—**तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री-**
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ।।३६।।

श्लोकार्थ—मुझे जन्म-जन्म में उनके लिए ही प्रेम और उनसे ही सखाभाव, सौहृद एवं मैत्री तथा उनका ही दास होकर रहूँ और महानुभाव तथा गुणों के आलय भगवान् में आसक्ति होवे, उनके भक्तों का सत्सङ्ग मिले, यही उनसे प्रार्थना है।३६।

सुबोधिनी—प्राणिनो देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि चतुर्विधानि भवन्ति । तत्र हृदयस्य संबन्धः सौहार्देन भवति सौहार्देनैव स्मरणम् । **सख्यं** प्राणस्य, स हि सर्वत्र जीवमुपयाति सखायमेवानुगच्छति । **भगवांश्चेन्मत्प्राणानां** सखा भवेत्तदा तमेवानुगच्छेयुरिति तात्पर्यम् । इन्द्रियाणां **मैत्री** तानि मित्रानुगुणमेव कुर्वन्ति । **दास्यं** देहस्य । एतच्चतुष्टयं मम पूर्वं स्थितमेव, अन्यथा भगवत्संबन्धः कथं भवेत् । **पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यादिति** प्रार्थना । यत्र याञ्चाभावेपि समृद्धिमेतावतीं दत्तवांस्तत्र किं न दद्यादिति गृहे प्रविष्टो याचते । नन्वेकस्मिन् जन्मनि एकेन सह जातम्, जन्मान्तरे शिवेनान्येन वा प्रार्थ्यतां कोयं निर्बन्ध इति चेत् तत्राह **महानुभावेन गुणालयेनेति** । स हि **महानुभावः** तत्सेवकसेवकेष्वपि न संसारादिधर्मा भवन्तीति । किंच । **गुणालयेन** गुणानां स एव एक आलयः आकरः । ननु तत्र सख्यार्थं जन्मादिप्रार्थनायां तत्र विषयैः सह आसङ्गः स्यात् तदा अनर्थो भवेदित्याशङ्क्याह **विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्ग** इति । तदा भगवद्भक्तैः सह सङ्गो भवतु तेनैवासङ्गदोषो निवर्तिष्यत इत्यर्थः ।।३६।।

१– हे अङ्ग ! यह भेंट मुझे और विश्व को तृप्त करती है।

व्याख्यार्थ—प्राणी को देह इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण चार प्रकार होते हैं उनमें से हृदय का सम्बन्ध सौहार्द से होता है। सौहार्द होने से ही स्मरण, बन सकता है। प्राण का सखा भाव से सम्बन्ध होता है, वह ही जीव के पास जाता है, अतः सखा के पीछे ही जाता है। यदि भगवान् मेरे प्राणों के सखा बन जावे, तो तब मेरे प्राण उनकी ओर ही जाएंगे, यही तात्पर्य है, इन्द्रियों का सम्बन्ध मैत्री से है, वे इन्द्रियाँ मैत्री की तरह ही बर्ताव करेगी, देह का सम्बन्ध दासपन से है, अर्थात् दासत्व प्राप्त हुवा भगवान् के साथ देह का सम्बन्ध सर्वदा बना रहेगा, ये चार ही मेरे पहले भगवान् में स्थित हैं, नहीं होते, तो भगवान् से मिलाप कैसे हो सकता ? फिर जन्म जन्म में वैसा ही रहे यह प्रार्थना है, जहाँ बिना मांगे भी, इतनी सम्पत्ति दे दी तो वे क्या नहीं देंगे अर्थात् सब कुछ मांगने पर तो देंगे ही, यों गृह में प्रविष्ट हो माँगने लगा।

एक जन्म में एक कृष्ण से ये सम्बन्ध हुए तो दूसरे जन्म में शिव से या दूसरे किसी से हो, वैसी प्रार्थना करो, एक के लिए ही आग्रह क्यों ? यदि यों कहते हो, तो इसका उत्तर यह है, कि वे महानुभाव हैं, जिसमे उनके सेवक के सेवकों में भी संसारादि धर्म नहीं हैं। और विशेष यह है कि गुणों की निधि वे ही हैं, उनमे सख्य आदि के लिए जन्म लेने की प्रार्थना करते हो, तो जन्म लेने पर विषयों में आसक्ति होगी तो अनर्थ हो जाएगा, इसके उत्तर में कहता है, कि अनर्थ न होगा क्योंकि तब भगवद्भक्तों से सङ्ग होगा, उससे विषयादि में सङ्ग नहीं होगा जिससे अनर्थ करने वाले सङ्ग के दोष स्वतः निवृत्त हो जाएंगे ।।३६।।

आभास—ननु तस्मिन् जन्मनि धनराज्यादिसंपत्तौ न भगवद्भक्तैः सह सङ्गः न वा निस्तार इति चेत् तत्राह **भक्ताय चित्रा** इति।

आभासार्थ—यदि कहो, कि उस जन्म में धन राज्य आदि सम्पत्ति होने पर भगवद्भक्तों से सङ्ग नहीं हो सकेगा तो, निस्तार भी नहीं होगा, इसके उत्तर में 'भक्ताय चित्रा' श्लोक कहता है—

श्लोक—**भक्ताय चित्रा भगवान् हि संपदो**
राज्यं विभूतीर्न समर्धयत्यजः।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं
पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ।।३७।।

श्लोकार्थ—धनी पुरुषों के धन के मद से नीच जन्म होते देखकर, विचक्षण भगवान् अपने अज्ञानी भक्तों को विचित्र सम्पदा, राज वा विभूतियाँ नहीं देते हैं, अपितु दृढ़ भक्ति ही देते हैं, मुझ में तो अब सम्पदाओं के मिल जाने से वह भक्ति नहीं रही, इसलिए अब भक्ति ही माँगता हूँ ।।३७।।

सुबोधिनी—भगवान् विचित्रा बुद्धिव्यामोहिकाः **संपदः** भक्ताय **न समर्धयति**। तथा **राज्यं विभूतीः** ऐश्वर्याणि च। तत्र हेतुः **अज** इति स्वयं न जातः। अनेन षड्भावविकारा निराकृताः। अतः स्वार्थं सेवकानां समृद्धिं न करोतीत्यर्थः। तेषामेवार्थे करिष्यतीति पक्षं दूषयति **अदीर्घबोधायेति**। यतः संपदादयः अदीर्घबोधाय भवन्ति। दीर्घबोधाभावाय नाशाय वा। अतो भक्तानां दीर्घबुद्धिर्न भविष्यतीति, जाता वा नाशं यास्यतीति न समर्धयति। नात्रान्यकथनापेक्षा यतः स्वयमेव **विचक्षणः**। कदाचिद्विस्मरणे का गतिरिति चेत्तत्राह **पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवमिति**। धनिनां धनमदपातदर्शनमेव भगवत्स्मारकमित्यर्थः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—भगवान् बुद्धि को मोहित करने वाली विचित्र सम्पदाएं भक्तों के यहाँ नहीं बढ़ाते हैं, अर्थात् नहीं देते हैं, वैसे ही राज्य विभूतियाँ और ऐश्वर्य भी नहीं देते हैं। उसमें कारण यह है, कि आप 'अज' होने से स्वयं जन्मा ही नहीं है, यों कहकर भगवान् में षड् विकारों का निराकरण किया है। अतः अपने लिए सेवकों की समृद्धि नहीं करते हैं। अपने लिए नहीं, तो उनके लिए तो करते होंगे, इस पक्ष को भी दूषण देते हैं, कि उनके लिए भी नहीं करते हैं क्योंकि सम्पदाएँ पूर्ण ज्ञान का अभाव करने वाली हैं, अथवा नाश करने वाली हैं, अतः सम्पदा होने से भक्तों की दीर्घबुद्धि नहीं होगी, अर्थात् ज्ञान वाली नहीं होगी यदि हो भी जावे, तो पुनः नष्ट हो जाएगी वह ज्ञान स्थिर नहीं रहेगा इसलिए भक्त की सम्पदा नहीं बढाते हैं। इस विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि स्वयं (खुद) ही विचक्षण हैं, विचक्षण भी कभी भूल जाता है इस पर कहता है, कि ये भूलेंगे नहीं, क्योंकि धनिकों की सम्पदा से मद(अभिमान) बढ़ता है, यह आप देख रहे हैं, इसलिए भूलेंगे नहीं किन्तु सोचेंगे, कि धनियों के धन से उत्पन्न मद का पात देखना ही भगवान् का स्मारक बनता है ।।३७।।

आभास—एवं भगवति सख्यादिकमेव निश्चित्य तत्परो भूत्वा त्यागार्थं विषयोपभोगं कृतवानित्याह **इत्थं व्यवसितमिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् मेरा सखा आदि बना रहे, यह निश्चयकर उन प्रभु के ही परायण हो, त्याग के लिए विषयों का उपभोग करने लगे—

श्लोक—**इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने।**
विषयान् जायया त्यक्ष्यन् बुभुजेऽनतिलम्पटः ।।३८।।

श्लोकार्थ—भगवान् का परमभक्त सुदामा इस प्रकार बुद्धि से निश्चयकर विषयों का शनैः-शनैः त्याग करता हुआ अति आसक्त न होकर स्त्री के साथ विषयों का उपभोग करने लगा ।।३८।।

सुबोधिनी—एवं **बुद्ध्या** निश्चीय स्वयं च **जनार्दने भक्तो** भूत्वा **जायया** सह तदर्थमेव एतावज्ज्ञातमिति कियत्कालानन्तरं तान् **विषयांश्च** त्यक्ष्यामीति **अनतिलम्पटः** किंचिल्लम्पटो भूत्वा अन्यथा रसो न भवतीति **बुभुजे** ।।३८।।

व्याख्यार्थ—इसी तरह बुद्धि से निश्चय कर, स्वयं जनार्दन का भक्त बनकर, उसमें ही भक्ति स्थिर कर, स्त्री के साथ कुछ लम्पट सा बनकर विषयों को भोगने लगा, यदि स्वल्प भी लम्पट न

बने तो रसका अविर्भाव न होवे मन में तो यह भावना थी, कि ये सर्वसम्पदाएं इस स्त्री के कारण ही प्राप्त हुई हैं, अतः कुछ काल तक इसका मनोरथ पूर्ण कर, बाद में विषयों का त्याग ही करूँगा ॥३८॥

आभास—एवं तस्य चरित्रमुक्त्वा भगवतोऽयं ब्रह्मण्यत्वगुण उक्त इति ज्ञापयितुं स्तौति **तस्य वै देवदेवस्येति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार उसका चरित्र कहकर भगवान् का यह ब्रह्मण्यत्व गुण कहा, यह ज्ञापन करने के लिए 'तस्य वै' श्लोक से स्तुति की जाती है—

श्लोक— **तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः ।**
ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—देवों के देव, यज्ञ के पति, भक्त दुःखहर्ता, प्रभाववान् भगवान् के प्रभु और देव, ब्राह्मण ही हैं, उनकी आज्ञा का पालन स्वयं करते हैं और इनकी पूजा भी करते हैं, अतः इनसे विशेष अन्य कोई भी नहीं है ॥३९॥

कारिका—**पूज्यो दुःखप्रहर्ता च कर्माध्यक्षः प्रभुस्तथा ।**
चतुर्विधो महान् लोके तादृशोपि द्विजप्रियः ॥

कारिकार्थ - भगवान् लोक में पूज्य, दुःखों को मिटाने वाले, कर्मों के अध्यक्ष तथा सर्व समर्थ हैं, इस प्रकार चार तरह से महान् होते हुए भी द्विजप्रिय हैं अर्थात् सबसे विशेष ब्राह्मण उनको प्यारे हैं ।

सुबोधिनी - तदाह **तस्य** प्रसिद्धस्य । **देवाना-**मपि देवस्य । सर्वदुःखहर्तुः यज्ञभोक्तुर्नियन्तुः एतादृशस्यापि **ब्राह्मणाः प्रभवः दैवं** च । आज्ञां करोति पूजयति चेत्यर्थः । किंच । भगवतो विचारेन **तेभ्यः** किंचिदुत्तमं वर्तते । अनेन दाक्षिण्यात्तान्मानयतीति पक्षो निवारितः ।

व्याख्यार्थ—उस प्रसिद्ध देवों के देव सर्वदुःखहर्ता, यज्ञ भोक्ता और नियन्ता के ब्राह्मण प्रभु हैं और दैव हैं, उनकी आज्ञा मानते हैं और उनकी पूजा भी करते हैं, और विशेषता यह है, कि भगवान् के विचार में ब्राह्मणों से उत्तम अन्य कोई नहीं है, इससे उनका आदर दाक्षिण्य के कारण करते हैं इस पक्ष का निराकरण किया ॥३९॥

कारिका—**शुद्धास्त एव वक्तारो माहात्म्योक्तौ विचक्षणाः ।**
निःस्पृहा ज्ञानसंयुक्ता मोक्षयोग्या हरिप्रियाः ॥३९॥

कारिकार्थ—जो निःस्पृह हैं, ज्ञानवान् हैं, माहात्म्य कहने में चतुर हैं; वे ही शुद्ध वक्ता हरि के प्रिय मोक्ष पाने के योग्य हैं ॥

आभास—एवं ब्रह्मण्यत्वं गुणं स्थापयित्वा ततः सुदाम्नः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **एवं स विप्रो भगवानिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् में ब्रह्मण्यत्व गुण हैं इसकी स्थापना कर पश्चात् सुदामा का क्या हुआ ? इस आकांक्षा में 'एव स' श्लोक कहते हैं—

श्लोक— **एवं स विप्रो भगवान् सुहृत्तदा**
दृष्ट्वा स्वभक्तैरजितं पराजितम् ।
तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन-
स्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम् ॥४०॥

श्लोकार्थ - इस प्रकार भगवान् का भक्त सुदामा भगवान् को अजित मानता है तो भी भक्तों से पराजित अर्थात् उनके वश समझकर, इनके ध्यान के वेग से आत्मा के बन्धन को तोड़कर भगवान् के धाम को और सत्पुरुषों की गति रूप भगवान् को स्वल्प समय में ही प्राप्त हो गया ॥४०॥

सुबोधिनी—भगवदावेशात् **भगवान्**, भगवतः **सुहृच्च** । भगवत्सुहृदा । **अजितं सर्वैरपि, भक्तैः पराजितं** सर्वावश्योऽपि भक्तवश्य इति सर्वेश्वरे वशे जाते सर्वपुरुषार्थाः करस्थिता इति । **तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन** इति तस्य ध्यानवेगेनैव उद्ग्रथिता आत्मानः सर्व एव अविद्यादिबन्धाः यस्येति तथाविधो भूत्वा भगवच्चिन्तनेनैव **तद्धाम लेभे** वैकुण्ठं प्राप्तवान् । ततः **अचिरतः** शीघ्रमेव **सतां गतिं** भगवन्तमपि, पश्चाच्च सायुज्यं प्राप्तवानित्यर्थः ॥४०॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में सुदामा को भगवान् और भगवान् का सुहृद कहा है, सुहृद तो ठीक किन्तु भगवान् कैसे कहा ? इस शङ्का का आचार्यश्री निवारण करते हैं, कि सुदामा में भगवान् का आवेश हो जाने से भगवान् कहा है, अथवा भगवत्सुहृत् पाठ समझा जावे, जिसका स्पष्ट अर्थ होगा भगवान् का मित्र, यद्यपि भगवान् को कोई भी जीतकर अपना आज्ञाकारी नहीं बना सकता है, किन्तु भक्तों से पराजित होकर भक्तों के ही केवल वश हो जाते है अन्य किसी के भी वश नहीं होते हैं जब सर्व के ईश्वर वश में आ गए तो सर्व पुरुषार्थ हाथ में आ गए, उनके ध्यान वेग से ही उस ब्राह्मण के सकल अविद्या के बन्धन टूट गए, यों होने पर भगवान् के चिन्तन आदि से उनका धाम प्राप्त कर लिया अर्थात् वैकुण्ठ को प्राप्त कर लिया, पश्चात् शीघ्र ही सत्पुरुषों की गति भगवान् को भी अनन्तर सायुज्य को प्राप्त कर लिया ॥४०॥

आभास—एवं सुदाम्न उद्धारमुक्त्वा तस्य पश्चादपि लोके कीर्तिर्भवत्विति एतदुपाख्यानस्य श्रवणफलमाह **एतद्ब्रह्मण्यदेवस्येति** ।

आभासार्थ—इसी तरह सुदामा का उद्धार कहकर, उसकी कीर्ति लोक में सदैव रहेगी, इसलिए उसके चरित्र श्रवण का फल 'एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।**
लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद्विमुच्यते ।।४१।।

श्लोकार्थ—मनुष्य ब्रह्मण्यदेव की यह ब्रह्मण्यता सुनकर भगवान् में भाव प्राप्त कर कर्म बन्धन से छूट जाता है ।।४१।।

सुबोधिनी—एतदित्यव्ययम् । इमां **ब्रह्मण्यतां श्रुत्वा नरो भगवति लब्धभावो** भवति नराणामैहिके दृढ़ा दृष्टिरिति तद्भगवान् करोतीति भगवद्भावो दृढो भवति । ततः **कर्मबन्धाद्विमुच्यते** यत्रैतच्छ्रोतुरपि मोक्षः तत्र सुदाम्नो मोक्षे कः संदेहः । एवं भुक्तिमुक्तिप्रदो भगवानेवेत्युक्तम् । अन्यदपि फलं भगवान्प्रयच्छतीति च । एवं निरुद्धानां फलदाता निरूपितः ।।४१।।

व्याख्यार्थ—'एतत्' शब्द अव्यय है, इस ब्रह्मण्यता को सुनकर मनुष्य भगवान् में भाव प्राप्त करता है। मनुष्यों की इस लोक में जो दृढ़दृष्टि होती है वह भगवान् करते हैं,यों भगवद्भाव दृढ़ होता है। भगवद्भाव दृढ़ होने से मनुष्य कर्मबन्धन से छूट जाता है। जहाँ इस चरित्र के सुनने वाले का भी मोक्ष हो जाता है, वहां सुदामा के मोक्ष में कौनसा संदेह? इस प्रकार भोग और मोक्ष देने वाले कोईनहीं, भगवान् ही हैं और अन्य फल भी भगवान् ही देते हैं इस प्रकार निरुद्धों का फलदाता भगवान् ही है यह निरूपण किया ।।४१।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे द्वात्रिंशाध्यायविवरणम् ।। ३२ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७८वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३२वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल
अवान्तर प्रकरण का चतुर्थ अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का पद यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं दिया जा रहा है ।
अष्ट छाप के श्री नन्ददासजी कृत 'सुदामा चरित' अन्यत्र देने का
प्रयास किया जावेगा ।

卐

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ८२वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ७९वाँ अध्याय
उत्तरार्ध ३३वाँ अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—५"

भगवान् श्रीकृष्ण व बलराम से गोप-गोपियों की भेंट

कारिका—**सात्त्विकप्रक्रियायां तु षड्भिः षड्भिस्त्रयं जगौ ।**
प्रमेयसाधनफलं धर्मास्तत्र निरूपिताः ।।१।।

धर्मिणोऽत्र त्रयो वाच्यास्तत्राध्यायत्रयं मतम् ।
सात्त्विके तु प्रमेये हि धर्मो यादृग्विधो मतः ।।२।।

त्रयाणिशे तथाध्याये प्रथमं स निरूप्यते ।
सर्वाभीष्टः सर्वसाक्षी सर्वप्रियहितैषणः ।।३।।

तीर्थैकगम्यो ज्ञानात्मा गुरुर्मोक्षप्रदः परः ।
सात्त्विकानामेकमेव साधनं गुणवर्णनम् ।।४।।

कारिकार्थ—सात्त्विक प्रकरण में धर्मरूप प्रमेय, साधन और फल छः-छः अध्यायों से निरूपण किए, अब तीन अध्यायों से साथ में ही धर्मी रूप 'प्रमेय','साधन' और 'फल' का निरूपण करते हैं। सात्त्विक 'प्रमेय' में जैसा धर्मी माना गया है। पहले वह इस उत्तरार्ध के तैंतीसवें अध्याय में कहते हैं। धर्मी वह है, जो सर्व को अभीष्ट हो, सबका साक्षी हो, सबका प्रिय हो और सबका हित करने वाला हो; वैसा धर्मी तीर्थ पर ही प्राप्त हो सकता है, जो ज्ञान से पूर्ण हो और मोक्षदाता तथा 'पर' हो। वैसे धर्मी की प्राप्ति का साधन एक ही गुणगान है ।।१–४.।

कारिका— **सरसस्य श्रुतिश्चापि तदग्रे विनिरूपितम् ।**
ततः फलात्मा स हरिः सर्वाभीष्टप्रपूरकः ।।५।।

देशकालौ तथा चाङ्गं ततस्तत्रैव तत्त्रयम् ।
तामसा राजसाः प्रोक्ता राजसाश्चैव सात्त्विकाः ।।६।।

ततोऽध्याये प्रमेयेऽत्र सर्वे सात्त्विकतां गताः ।
प्रमेयमेतदेवात्र यदा सर्वेऽत्र सात्त्विकाः । ७।।

तदा प्रमेयो भगवान्नान्यथेत्युच्यते स्फुटः ।

कारिकार्थ—इसके अनन्तर आने वाले अध्याय में रस सहित चरित्र का एवं रूप का निरूपण होगा, उसका ही श्रवण और कीर्तन करना साधन है। इसके बाद फलात्मा, सबका अभीष्ट करने वाले[1] हरि का निरूपण किया गया है। इस कारण से इसी अध्याय में देश[2], काल[3] और अङ्ग[4] इन तीनों का वर्णन है। इस प्रमेय रूप प्रभु के वर्णन से तामस से राजस, राजस से सात्त्विक बन गए। इसी प्रकार जब सब सात्त्विक हुए, तब यह निश्चय है कि यह ही प्रमेय स्वरूप भगवान् स्फुट कहा है अन्यथा नहीं ।।५–७½।।

आभास— इदानीमध्यायत्रयेण भगवत्साक्षात्कारः। भगवदीयानां साधनं तेषां फलं च क्रमेण निरूप्यते। तत्र प्रथमं सात्त्विकानामपि सर्वोत्कृष्टानां ग्रहणादिकाल-

---

१– जिसको सब चाहते हों। २– यज्ञ करने से वह पवित्र देश है।
३– ऋत्विजों को दान देने से दान का काल है।
४– यज्ञ रूप क्रिया शक्ति भी वहाँ है, क्योंकि मखैः' यज्ञ से वह शक्ति वहां रही है,

विशिष्टे कुरुक्षेत्रादावेव भगवद्दर्शनं नान्यत्रेति निरूप्यते। तदर्थं कुरुक्षेत्रयात्राप्रसङ्गः। तीर्थमपि गृहं चेत्तदा न फलतीति मथुरातो द्वारकातश्च सर्वेषां गमनम्।

तत्र कालस्य प्राधान्यात्प्रथमं सूर्यग्रहणमाह **अथैकदेति**।

आभासार्थ—अब तीन अध्यायों से भगवत्साक्षात्कार का वर्णन होता है। प्रथम भगवदीयों का साधन, तथा उनका फल, क्रम से कहते हैं, सबसे उत्कृष्ट (उत्तम) सात्विकों को भी ग्रहणादि उत्तम काल वाले कुरुक्षेत्र आदि में ही भगवान् के दर्शन होते हैं, दूसरे स्थान पर नहीं, यों निरूपण किया जाता है।

इसलिए ही प्रथम कुरुक्षेत्र की यात्रा का प्रसङ्ग कहते हैं। मथुरा, द्वारका भी तीर्थ हैं फिर कुरुक्षेत्र क्यों गए जिसके उत्तर में आचार्य श्री आज्ञा करते हैं, कि यदि तीर्थ अपना गृह हो गया हो, तो वह तीर्थ फल नहीं देता है। इसलिए सब मथुरा और द्वारका अपना गृह छोड़ कुरुक्षेत्र गए। काल की प्रधान्यता होने से प्रथम श्री शुकदेवजी 'अथैकदा' श्लोक में सूर्यग्रहण का वर्णन करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–**अथैकदा द्वारकायां वसतो रामकृष्णयोः ।**
सूर्योपरागः सुमहानासीत्कल्पक्षये यथा ।।१।।

श्लोकार्थ श्री शुकदेवजी कहने लगे कि श्रीकृष्ण और बलदेवजी जब विराजते थे, तब एक दिन प्रलयकाल में जैसे हो, वैसा बड़ा भारी सूर्य ग्रहण हुआ ।।१।।

सुबोधिनी— राहुग्रस्तदिवाकरान्नान्यो मुख्यः कालः स च कालः सर्वनाशक इति भगवति विद्यमाने कदाचिन्न भवेदित्याशङ्क्याह **रामकृष्णयोर्द्वारकायामेव वसतोः। यथा कल्पक्षये** कल्पक्षयनिमित्तं तत्सूचकः **सूर्योपरागः** सर्वग्रासात्मको भवति। एवं भगवति विद्यमानेपि जातः भूभारहरणं सूचयिष्यति ।।१।।

व्याख्यार्थ—राहु से ग्रस्त सूर्य से विशेष दूसरा कोई मुख्यकाल नहीं हैं, और वह काल सर्व का नाश करने वाला है यों भगवान् के विद्यमान होते हुए कदाचित् न भी होवे, किन्तु भगवान् श्री राम कृष्ण दोनों के द्वारका में विराजमान होते हुए भी हुआ वह सूर्यग्रहण साधारण नहीं हुआ, किन्तु जैसे कल्प के क्षय का कारण एवं उसकी सूचना करने वाला, सर्व ग्रासात्मक सूर्यग्रहण हुआ भगवान् के विराजते हुए वैसा सूर्य ग्रहण क्यों हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह ग्रहण सूचना करता है, कि अभी पृथ्वी पर जो बोझ बढा है वह नष्ट होगा ।।१।।

आभास—ततः किमत आह **तं ज्ञात्वेति**।

आभासार्थ—पश्चात् क्या हुआ ? इसलिए तं ज्ञात्वा' श्लोक कहते हैं।

श्लोक— **तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः ।**
स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ।।२।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! ज्योतिषियों द्वारा सूर्य ग्रहण होगा, वैसा जान कर पहले ही श्रेय की अभिलाषा से सब स्थानों से सब कुरुक्षेत्र जाने लगे ।।२।।

सुबोधिनी ज्योतिःशास्त्रप्रामाण्यात् पूर्वमेव माघे मासि ग्रहणं जायत इति श्रुत्वा **स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं** कुरुणा निर्मितं देशानां मध्ये मुख्यम् । **श्रेयोविधित्सया** तत्र गत्वा श्रेयः संपादयिष्याम इति निश्चित्य तस्मिन् समागताः ।।२।।

व्याख्यार्थ—ज्योतिषशास्त्र ही बताता है, कि ग्रहण होगा अतः यह शास्त्र ही इस विषय में प्रमाण है, इसलिए जनता ज्योतिषियों से यह सुनकर कि माघ मास में वैसा ग्रहण होगा, कुरु के बनाए हुए देशों में मुख्य स्यमन्त पञ्चक कुरुक्षेत्र में जाने से निश्चय श्रेय होगा यह निश्चय कर वहां आए ।।२।।

आभास—ननु तत्रैव श्रेयःसंपादनं कुत इति चेत्तत्राह **निःक्षत्रियां महीं कुर्वन्निति** ।

आभासार्थ—वहाँ ही कल्याण सम्पादन करेंगे, वैसा निश्चय क्यों ? इसके उत्तर में 'निःक्षत्रियां' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक— **निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः ।**
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान् ।।३।।

श्लोकार्थ—शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ परशुरामजी ने निःक्षत्रिय पृथ्वी को बनाने के लिए राजाओं के लोहू के समूह से जहाँ बड़े-बड़े ह्रद (कुण्ड) बनाए थे ।।३।।

सुबोधिनी पूर्वं रामेण क्षत्रियाणां सर्वेषामेव नाशार्थं संकल्पः कृतः । ततः क्षत्रियाः सर्वान्मारयिष्यतीति निश्चित्य क्व युद्धेन मृते मोक्षं प्राप्स्याम इति विचार्य 'कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा' इति 'धर्मक्षेत्रे' इति कुरुणा महता कष्टेन तत् स्थानं तथाकृतमिति तत्रैव मोक्षो भविष्यतीति निश्चित्य परशुराममारणसमये सर्व एव तत्र समागताः । ततो रामेण ते सर्वे हताः तेषां **रुधिरौघेण** नव **ह्रदांश्चक्रे** तान्येव तीर्थानि जातानि गङ्गातोऽप्यधिकानि । अनेन तस्योत्कर्षो निरूपितः । **शस्त्रभृतां वर** इति स्वधर्मनिष्ठया तस्य सम्यग्देशज्ञानं निरूपितम् ।।३।।

व्याख्यार्थ—पूर्व समय में श्री परशुरामजी ने यह सङ्कल्प किया था कि सब क्षत्रियों का नाश करूँगा, यह उनका सङ्कल्प सुनकर सब क्षत्रियों ने विचार किया कि वह सबको मारेगा तो युद्ध में मरे हुए कहाँ मोक्ष पाते हैं ? कुरु ने जो महान् कष्ट से धर्म क्षेत्र, कुरुक्षेत्र बनाया है । वहाँ ही मरने से मोक्ष प्राप्ति होगी; क्योंकि गङ्गाजी के लिए भी कहा है कि 'कुरुक्षेत्र समा गङ्गा' गङ्गा कुरुक्षेत्र के समान है यों विचारपूर्वक निश्चय कर परशुरामजी ने जो समय क्षत्रियों के नाश का निश्चित् किया

था, उस समय सब क्षत्रिय वहाँ आ गए पश्चात् रामजी ने आए हुए सब क्षत्रियों को मार डाला, उनके लोहू के समूह से नव ह्रद (सरोवर) बनाए, वे नव ही गङ्गा से भी अधिक तीर्थ बने, इससे इस स्थान का उत्कर्ष बताया, परशुरामजी शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ थे और अपने धर्म में पूर्ण निष्ठा थी जिससे उनको देश का पूर्ण ज्ञान[1] था यों निरूपण किया ।।३।।

आभास— किञ्च । न केवलं क्षत्रियाणामेव तत्रोत्कर्षः संपादितः किंतु स्वस्यापीत्याह **ईजे च भगवान् राम** इति ।

आभासार्थ—यों करने से केवल क्षत्रियों का ही उत्कर्ष नहीं बताया, किन्तु अपना महत्त्व भी दिखा दिया, यह 'ईजे च' श्लोक में कहते है—

श्लोक— **ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा ।**
लोकं संग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये ।।४।।

श्लोकार्थ— भगवान् परशुरामजी को वध के पाप का स्पर्श मात्र भी न था, तो भी उन्होंने लोक के शिक्षार्थ प्राकृत पुरुषों के समान पाप निवृत्ति के लिए यज्ञ किए ।।४।।

सुबोधिनी—प्रायश्चित्तार्थं यज्ञांश्च तत्रैव कृतवान् प्रायश्चित्तं तु पापसंबन्धे भवति तथा च तस्मिन् क्षेत्रे पापमप्युत्पद्यत इति शङ्काव्युदासार्थमाह **स्त्रास्पृष्टोऽपि कर्मणेति** । यद्यपि भगवत्त्वेनापि न कर्मसंबन्धस्तथापि तत्र देशमाहात्म्यादेव न कर्मसंबन्ध इति ज्ञापयितुं **यत्रेत्युक्तम्** । अन्यथा **च**कारादपि पूर्वस्थानमायाति । तर्हि यागस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याह **लोकं संग्राहयन्निति** । ननु किमित्येवं मन्यते तत्राह **ईश** इति । ननु ईशस्य यज्ञाधिकार एव नास्ति कथं कृतवानिति चेत्तत्राह **यथान्य** इति । फलार्थतां वारयति **अघापनुत्तय** इति पापक्षयार्थम् ।।४।।

व्याख्यार्थ—परशुरामजी ने, वध का प्रायश्चित करने के लिए वहां ही यज्ञ किए, प्रायश्चित तब किया जाता है, जब पाप का सम्बन्ध होवे, यदि पाप का सम्बन्ध माना जाएगा, तो उस क्षेत्र में भी पाप लगता है यह सिद्ध होगा इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा' वध के कर्म से उत्पन्न पापों से सम्बन्ध न होने पर भी यज्ञ किए । एक तो स्वयं भगवान् थे, इसलिए आप को पाप स्पर्श नहीं कर सकते हैं तथा देश के महात्म्य के कारण से भी पाप स्पर्श नहीं करते हैं । यह जताने के लिए (यत्र) पद दिया हैं । नहीं तो चकार से भी पूर्व का स्थान आ जाता है । तब यज्ञ क्यों किए ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि लोक संग्राहयन्' लोक की मर्यादा की शिक्षा देने के लिए यज्ञ किए, यों क्यों शिक्षा दी ? तो कहते हैं कि आप लोक के स्वामी हैं आपका कर्त्तव्य हैं शिक्षा देना, इस लिए यज्ञ किए यदि ईश हैं तो उनको यज्ञ करने का अधिकार नहीं है फिर क्यों किए ? इस पर कहते हैं कि जैसे दूसरे लौकिक करते हैं, वैसे ही उस मर्यादा की रक्षा के लिए तथा शिक्षणार्थ किए । यज्ञों का फल स्वर्गादि मिले इसलिए नहीं, किन्तु केवल पाप निवृत्ति के लिए लोक करें इस वास्ते ही किए ।।४।।

१— यह ज्ञान था कि यहाँ वध करने से मारने का दोष नहीं लगेगा, इसलिए उन राजाओं को यहाँ वध किया ।

आभास—एवं देशकालयोर्माहात्म्यमुक्त्वा तत्र सर्वासां प्रजानां समागमनमाह **महत्यां तीर्थयात्रायामिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार देश, काल का महात्म्य कहकर 'महत्यां' श्लोक से सबका आगमन कहते हैं—

श्लोक—**महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन्भारतीः प्रजाः ।**
वृष्णयश्च तथाऽक्रूरवसुदेवाहुकादयः ।।५।।

श्लोकार्थ—इस बड़ी तीर्थ यात्रा में भरत खण्ड की सब प्रजा आई, अक्रूर, वसुदेव और आहुक आदि यादव भी आए ।।५।।

सुबोधिनी—एतादृशे निमित्ते तीर्थयात्रा महती भवति । महत्त्वं सर्वेषां गमनात्फलाधिक्याच्च । अत एव **भारतीः** भारतवर्षोद्भवाः **प्रजाः** सर्वा एव **तत्रागमन्** । तत्र महतां नामानि संक्षेपेणाह **वृष्णयश्चेति** । आदौ **वृष्णयः** समागताः तत्रापि मुख्या एव समागता इति वक्तुं **अक्रूरवसुदेवाहुकादय** इति सात्त्विका महान्तो राजानश्चोक्ताः ।।५।।

व्याख्यार्थ—जब तीर्थ पर जाने के लिए ऐसा (सूर्य ग्रहणादि) निमित्त होता है, तब महती यात्रा होती है, क्योंकि उसका महत्व होता है । जिसके लिए कहते हैं कि एक तो वहाँ सब स्थानों से प्रायः बहुत आते हैं और उसकाल में जाने से फल अधिक प्राप्त होता है । इस कारण से ही भारतवर्ष में उत्पन्न सर्व प्रजा वहां आई, वहां आए हुवे में से संक्षेप में मुख्य नाम कहते हैं । प्रथम यादव आए उनमें से भी मुख्य जो आये उनका नाम कहते है, अक्रूर, वसुदेव और आहुक आदि आए, ये सात्विक महान् और राजा कहे ।।५।।

आभास—तेषामन्यत्र गमनं वारयितुमाह **ययुस्ते भारतं क्षेत्रमिति** ।

आभासार्थ—उनका दूसरे स्थान पर जाने का निवारण करने के लिए कहते हैं कि 'ययुस्ते भारतं क्षेत्रं' वे भारत क्षेत्र में गए ।

श्लोक—**ययुस्ते भारतं क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः ।**
गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च सुचन्द्रशुकसारणैः ।।६।।

श्लोकार्थ—अपने पापों को मिटाने के लिए सुचन्द्र, शुक और सारण के साथ गद, प्रद्युम्न तथा साम्ब भी उस भारत क्षेत्र (कुरु क्षेत्र) में गए ।।६।।

सुबोधिनी—भरतवंशोद्भवेन निर्मितं **क्षेत्रं** वृष्णीनां सर्वश्रेयांसि गृह एवेति भगवदवज्ञालक्षणं पापं संभवतीति तस्यान्यत्र निष्कृतिमलभमानाः **स्वमसाधारणमघं क्षपयिष्णवः** तत्रागता इत्युक्तम् । त्रिविधा एव समागता इति शङ्काव्युदासार्थं अन्यानपि गणयति **गदप्रद्युम्नसाम्बाश्चेति** ।।६।।

व्याख्यार्थ—भरतवंश में उत्पन्न कुरु ने जो क्षेत्र बनाया है वहाँ ही पाप नष्ट होंगे, यदि यादव यों मानले कि हमारे लिए अपना गृह ही सर्व कल्याण करने वाले हैं तो भगवान् की अवज्ञा रूप पाप लगेगा, इसलिए उस पाप का मिटाना दूसरे स्थान पर नहीं होगा, अतः अपने असाधारण पाप को नष्ट करने की इच्छावाले वहाँ आए यों कहा तीन प्रकार के ही आए । इस शङ्का को मिटाने के लिये दूसरों की भी गणना करते हैं कि गद प्रद्युम्न और साम्ब भी आए ।।६।।

आभास—सर्वेषामेवागमने द्वारकायां कः स्थित इत्याकाङ्क्षायामाह **आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायामिति** ।

आभासार्थ—सब ही आ गए तो द्वारका में कौन रहा ? जिसके उत्तर में 'आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः ।**
ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ।।७।।

श्लोकार्थ—द्वारका की रक्षा के लिए अनिरुद्ध और उसका सेनापति कृतवर्मा वहाँ रहा,जो यादव वहाँ कुरुक्षेत्र गए,वे कैसे गए? जिसका वर्णन करते हैं कि वे देवताओं के विमान के समान चमकने वाले रथों से तरंगों के समान चञ्चल घोड़ों से गए ।।७।।

सुबोधिनी—**अनिरुद्धो** योगपतिरिति योगाभ्यासपरस्याप्यनागमनमुक्तम् । **कृतवर्मा च यूथप** इति । तस्य सेनापतिरित्यर्थः । योऽपि तस्योत्तरसाधकः सोऽपि नागच्छेदिति यद्यपीयं यात्रा सर्वसाधारणा तथापि भगवच्चरित्रस्य प्रकरणित्वात् मुख्यतया यादवा वर्ण्यन्ते । ये समागतास्ते किं यात्रानियमेन आहोस्विच्छोभयेति संदेहे निरूपयति **ते रथैर्देवधिष्ण्याभैरिति** । कृत्वा कार्पटिकं वेषम्' इति नियमः यात्रायां देशमात्रप्राधान्ये स नियमः, कालप्राधान्ये तु न नियम इति । चतुरङ्गसेनया महत्या सहितास्ते व्यरोचन्तेति रक्षा शोभाविषयश्च निरूप्यते । **रथादयो** वाहनरूपा इति केचित् । **देवधिष्ण्यानि** विमानानि । जगन्नाथादिदेवस्थानयात्रानिमित्तदेवासनरथसदृशा वा नानालंकरणोपेताः तैर्व्यरोचन्तेत्यग्रिमेण संबन्धः । **ते** गदादयः सर्व एव वा लोकाः तथा **हया** अपि **तरलवत्तरङ्गवत् प्लवः** प्लवनं गतिर्येषाम् । हयानां गतिरेव गुणः ।।७।।

व्याख्यार्थ अनिरुद्ध योगपति हैं, इसलिए योगाभ्यास के परायण होने वाले का वहाँ न आना कहा तथा उनका सेनापति भी नहीं आया क्योंकि वह उनका उत्तरदायी है । अतः वह भी न आ सके, यद्यपि यह पात्र सर्व साधारण हैं तो भी भगवान् का चरित्र ही प्रकरण का विषय है । अतः मुख्य रूप से यादवों का वर्णन किया जाता है, जो भी आए वे यात्रा के नियमों का पालन करते हुए आए अथवा केवल शोभा के लिए आए ? इस प्रकार का सन्देह होने पर निरूपण करते हैं कि, वे देवताओं के विमानों के समान सुशोभित रथों से आए, यद्यपि तीर्थों पर जाने का नियम है कि साधु वेष में जाना चाहिए. देश मात्र का प्राधान्य जिस यात्रा में हो उसके लिए यह नियम है, अर्थात् जब यात्री इस विचार से जावे कि चलो गङ्गा आदि पवित्र स्थानों पर चलें,

तब नियम का पालन करना चाहिए, जब काल की प्रधानता हो तब वह नियम नहीं, अर्थात् जब कोई विशेष काल जैसे कुरुक्षेत्र आदि में सूर्य ग्रहण आदि काल पर जाना पड़े तो नियम की आवश्यकता नहीं है । वैसे तीर्थों पर विशेष उत्सव बड़े त्योंहारों पर जाने का अवसर हो, तो साधु वेष आदि नियम नहीं है अतः यादवादि जो इस काल विशेष पर आए, वे महती चतुरङ्गिणी सेना सहित आते हुए शोभा पाने लगे, इससे रक्षा और शोभा विषय का निरूपण किया जाता है । रथ आदि वाहन रूप थे यों कोई कहते हैं विमान समान रथ थे अथवा जगन्नाथ आदि देव स्थान यात्रा निमित्त देवासन रथों के सदृश रथ थे, अनेक अलङ्करणों से युक्त होने से वे शोभित थे इसका अग्रिम श्लोक से सम्बन्ध है वे गद आदि और सब ही लोक तथा घोड़े भी तरंगों के समान चञ्चल चाल वाले थे, घोड़ों का काल ही गुण है ।।७।।

श्लोक - **गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः ।**
व्यरोचन्त महातेजाः पथि काञ्चनमालिनः ।।८।।

श्लोकार्थ—बादल के समान गर्जना करते हुए हाथी और विद्याधरों के समान कान्तिवाले तेजस्वी पुरुषों को साथ ले चलते हुए सुवर्ण की मालाओं को धारण किए हुए यादव मार्ग में शोभते थे ।।८।।

सुबोधिनी—गजाश्च नदन्तः, **अभ्राभाः** अत्युच्चाः, नादेनान्तस्तोषो मत्तता वा निरूप्यते। **नृभिः** पदातिभिः दोलावाहकैर्वा, तेषां कान्ति-**विद्याधरसदृशी** । ते हि नानाविद्यया नानारूपा भवन्ति अलंकृताश्च । प्रतिक्षणमन्यथान्यथारूप-मिति ज्ञापयितुं विद्याधरकान्तितुल्यता । स्वयमपि **महातेजा** महत्तेजो येषामिति समासान्तोऽत्र टच् । तेन टिलोपान्महातेज इत्यकारान्तो भवति । अनेन सहजोत्कर्षस्तेषामुक्तः । आगन्तु-कमाह **पथि काञ्चनमालिन** इति । अनेन सर्व-देशस्वास्थ्यं सर्वनिर्मलचित्तता च निरूपिता । अन्यथा साभरणा निर्भयाश्च सर्वे सर्वतो नागच्छेयुः ।।८ ।

व्याख्यार्थ—हाथी बादल के समान ऊंची गर्जना कर अपना अन्तः सन्तोष अथवा अपनी मदोन्मत्तता प्रकट करते थे विद्याधरों के समान कान्ति वाले, प्यादे अथवा डोली उठाने वाले साथ में थे वे अनेक विद्याओं से अपने अनेक रूप प्रदर्शित करते थे और अलङ्कृत थे. हर एक क्षण में नवीन रूप धारण करते थे, यह जताने के लिए विद्याधरों जैसी कान्ति कही है । स्वयं भी महान् तेजस्वी थे महातेजाः' यह शब्द समासान्त होने के कारण व्याकरणानुसार अकरान्त हुआ है, इससे इनका सहज उत्कर्ष कहा गया है । आए हुए जनों के अलंकृत होने का वर्णन करते हैं कि उन्होंने गले में सुवर्ण की मालाएं पहनी थी मार्ग में भी उतारी नहीं थी, कारण कि देश में सर्व प्रकार की स्वस्थता थी, सबके चित्त शुद्ध थे अर्थात् मार्ग में डाकू आदि लूटते नहीं थे जिससे वे सुवर्ण आभुषण धारण कर निर्भय आ रहे थे यदि स्वस्थता और चित्त शुद्ध न हो तो आभुषण पहन चारों तरफ से निर्भय नहीं आ सकते थे ।।८।।

आभास - दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहा इति ।

आभासार्थ—आगे 'दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहा' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक - **दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहाः कलत्रैः खेचरा इव ।**
तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः ।।९।।

श्लोकार्थ—दिव्य वस्त्र,माला व कवच पहने हुए अपनी स्त्रियों के साथ पंथ में जाते हुए देवों के समान शोभा पा रहे थे, महाभाग्यशालियों ने वहाँ उपवास किया और स्नान कर समस्त विषयादि दोषों का त्याग किया ।।९।।

सुबोधिनी — दिव्यान्यलौकिकानि लोके आश्चर्यकराणि वस्त्रादीनि **संवाहा** अश्वाः, सन्नाहा वा कवचादयः । सर्व एव सस्त्रीकाः प्रवृत्तौ सहितानामेवाधिकार इति, महत्त्वख्यापकं वा । स्त्रीणां बाहुल्यं शोभातिशयं च ज्ञापयितुं दृष्टान्तः **खेचरा इवेति** । एवं सर्वेषामागमनमुक्त्वा अमावास्यायां ग्रहणदिवस एव यावतामागमनं संभवति तानुक्त्वा पश्चात्तीर्थस्नानादिकं कृतवन्त इत्याह **तत्र स्नात्वेति** । **महाभागा** इत्यनेन तीर्थप्राप्तिभाग्यं दानाद्यर्थं च निरूप्यते । ततो ग्रस्तास्तमयः सूर्य इति तस्मिन् दिवसे सर्वेषामुपवासः न तु तीर्थ-प्राप्तिनिमित्तः कुरुक्षेत्रे तन्निषेधात् । **सुसमाहिता** इति सर्वभोगनिवृत्तिः क्रोधादिसर्वदोषनिवृत्तिश्च । ।।९।।

व्याख्यार्थ—दिव्य कहते हैं अलौकिक जो लोक में आश्चर्यजनक हों ऐसे वस्त्र घोड़े यदि 'सन्नाहा' ऐसा पाठ हो तो उसका अर्थ है कवच आदि । वे सब स्त्रियों को साथ लेकर गये थे प्रवृत्ति में स्त्रियों के साथ ही अधिकार होता है अथवा स्त्रियों को साथ इसलिए ले गये थे कि हमारा इससे महत्व माना जायगा । स्त्रियों की अधिकता एवं शोभातिशय को जताने के लिए 'खेचरा एव' दृष्टान्त दिया है, जैसे सिद्ध अथवा विद्याधर अपनी स्त्रियों के साथ ही आकाश में विचरण कर । इस प्रकार सब के आगमन को कहकर अमावस्या में ग्रहण के दिन जितनों का आगमन संभव था उसे कहकर बाद में स्नानादिक किया यह 'तत्र स्नात्वा' पद से बताया है । जो ग्रहण के दिन तीर्थ पर आए तथा जिन्होने दान आदि दिया वे बड़े भाग्यवान् थे यह महाभागा इस पद से निरूपित हुआ। ग्रस्तास्त सूर्यग्रहण होने से उस दिन सबने उपवास किया । तीर्थ में आये हैं इसलिए उपवास नहीं किया था क्योंकि कुरुक्षेत्र में उपवास करने का निषेध है । 'सुसमाहिता' यह पद इस बात को बताता है कि उन्होंने सब भोगों का एवं क्रोधादि सब दोषों का परित्याग कर दिया था ।।९।

श्लोक—**ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासःस्रग्रुक्ममालिनीः ।**
रामह्रदेषु विधिवत्पुनराप्लुत्य वृष्णयः ।।१०।।

श्लोकार्थ—पश्चात् ग्रहण के समय ब्राह्मणों को वस्त्र, पुष्प-माला और कञ्चन की माला वाली गायें दान में दीं, फिर यादवों ने कुरुक्षेत्र में बने हुए राम ह्रदों (सरोवरों) में विधिवत् स्नान किया ।।१०।।

सुबोधिनी—ततो ग्रहणसमये **ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूः वासांसि स्रजश्च रुक्ममालाश्च** यासु सर्वा-लंकरणोपेता दत्ता इत्यर्थः । तत्र मुख्यमेकं सरः अन्ये च ह्रदा नव । ते **रामह्रदाः** शोणितौघान् ह्रदान्नव' इति वाक्यात्ततो रामह्रदेष्वपि **विधि-वत्**फलसाधकत्वात् स्नानं कृतवन्तः ।।१०।।

व्याख्यार्थ– ग्रहण के समय ब्राह्मणों को वस्त्र पुष्पमाला और सुवर्ण की मालाओं से युक्त गायें दान में दीं, वहां एक मुख्य सरोवर और दूसरे नव ह्रद हैं। शोणितौघान् ह्रदान्नव' इस प्रमाण से नव ह्रद राम ह्रद कहलाते हैं, ये नव ह्रद फल का सिद्ध करने वाले हैं अतः इनमें विधिवत् स्नान किया ।।१०।।

श्लोक—**ददुः स्वर्णं द्विजाग्र्येभ्य कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति ।**
स्वयं च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ।।११।।

श्लोकार्थ—हमारी श्रीकृष्ण में दृढ़ भक्ति हो, इसलिए ब्राह्मणों को स्वर्ण का दान दिया, कृष्ण ही जिनका देव है। ऐसे यादव ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर भोजन करने लगे और स्वयं श्रीकृष्ण भी भोजन करने लगे – निम्न श्लोक से सम्बन्ध है ।।११।।

सुबोधिनी– तत्रापि **स्वर्णं ददुः** स्नानपूर्त्यर्थम्, दानाभावे स्नानं विकलं स्यात्। कामनामाह **कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति** । तीर्थसुवर्णदानयोरुभयोरपि सार्वकामिकत्वात्। एतत्स्नानं द्वितीयदिवस एवेति केचित्। पुनःपदाद्द्वितीयदिवसेऽपि दानं च। ततो ब्राह्मणानुज्ञया **कृष्ण** एव **देवता** येषाम् ।।११।।

व्याख्यार्थ - स्नान की सफलता के लिए उत्तम ब्राह्मणों को स्नान के बाद भी सुवर्ण का दान दिया, स्नान के अनन्तर यदि ब्राह्मणों को दान न दिया जाय तो स्नान निष्फल हो जाता है अर्थात् स्नान का फल नहीं मिलता है। यादवों को जो मन में कामना थी वह बताते हैं इस स्नान का फल हमको यह मिले कि श्री कृष्ण में हमारी दृढ भक्ति बनी रहे, तीर्थ पर आने और वहाँ सुवर्ण दान दोनों का फल, सर्व प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करता है, अतः यादवों की यह श्रीकृष्ण भक्ति की कामना इससे पूर्ण हुई, कोई कहते हैं कि यह स्नान दूसरे दिन किया श्लोक १० के मूल में 'पुनः' पद है जिसका आशय है कि दूसरे दिन भी दान किया अनन्तर कृष्ण ही जिनका देवता है ऐसे यादवों ने ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर कृष्ण का पूजन कर उनके भोजन के बाद भोजन किया नीचे के श्लोक से सम्बन्ध है ।।११।।

श्लोक—**भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु ।**
तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्संबन्धिनोऽपरान् ।।१२।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण को ही इष्ट देव मानने वाले यादवों ने ब्राह्मणों की आज्ञा ले, भोजन कर, फिर वे शीतल छाया वाले वृक्षों की छाया में इच्छानुसार बैठ गए। वहाँ उन्होंने आए हुए सुहृत्, सम्बन्धी और दूसरों को देखा ।।१२।।

सुबोधिनी—तत्र तीर्थे कृष्णं पूजयित्वा भोजनार्थमुपविष्टे भुक्ते वा भगवति भगवता वानुज्ञाता **स्निग्धच्छायाप्रयुक्तेष्वङ्घ्रिपेषु** भुक्त्वा समुपविविशुः। एतावत्पर्यन्तं तीर्थवैयग्र्याल्लोकदर्शनार्थं नावकाशः। ततो यादवाः स्वयमन्यत्रागत्यैव भगवांस्तत्र वर्तत इति **तत्रैव** समागतान् सर्वान् ददृशुरित्याह **तत्रागतांस्ते ददृशुरिति**। **सुहृदो** मित्राणि **संबन्धिनः अपरानुदासीनांश्च** भगवद्दर्शनार्थमागतान्, नृपानिति वा ।।१२।।

व्याख्यार्थ—वहाँ तीर्थ पर श्री कृष्ण का पूजन कर भोजन के लिए विराजमान हुवे भगवान् के भोजन कर लेने के बाद भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर यादवों ने भोजन किया, अनन्तर शीतल छाया वाले वृक्षों की छाया में बैठ गए इतने समय तक तीर्थ कार्य की व्यग्रता से लोगों को देखने का अवसर (मोका) न मिला पश्चात् यादव स्वयं दूसरे स्थान पर न गए क्योंकि भगवान् वहाँ विराजते हैं इनको छोड़ कैसे जावे ? अतः यहाँ ही आए हुवे सब को देखा, जिनको देखा उनका वर्णन करते हैं। मित्र सम्बन्धी जिनसे विवाह का सम्बन्ध बना रहता है और अन्य जिनसे कोई विशेष सम्बन्ध, मित्रता वा पहिचान नहीं, ऐसे जो उदासीन दर्शनार्थ आए हुए थे उनको देखा अथवा अन्य राजाओं को देखा ।।१२।।

आभास—नानादेशस्थास्ते इति देशभेदान्निरूपयति **मत्स्येति** ।

आभासार्थ—वे अनेक देशों के रहने वाले थे जिनका वर्णन 'मत्स्योशीनर' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**मत्स्योशीनरकौसल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान् ।**
काम्बोजकैकयान्मद्रान्कुन्तीन्नारदकेरलान् ।।१३।।
अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान्परांश्च शतशो नृप ।
नन्दादीन्सुहृदो गोपान्गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम् ।।१४।।

श्लोकार्थ—मत्स्य, उशीनर, कौसल्य, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, केकय, कुन्तल, कोंकण, केरल देशों के और अन्य अपने पक्ष के तथा दूसरे सैंकड़ों राजा लोग जो भी आए थे उन सब को भगवान् के यहाँ ही देखा, अपने सुहृद नन्दरायजी आदि तथा गोप एवं गोपियों को देखा जो नन्द गोप और गोपियाँ बहुत समय से भगवान् के दर्शन की उत्कण्ठा कर रही थीं ।।१३-१४।।

सुबोधिनी—**नारद**देशः कौंकणदेशः। अन्ये तु प्रसिद्धाः एकादश निरूपिताः। तत्तन्मनोवृत्तिप्राधान्यख्यापनाय। अनुक्तसमुच्चयार्थमाह **अन्यांश्चैव**ेति। **परान्** शत्रुपक्षीयान् **शतश** इति शत्रुबाहुल्यं सूचितम्। तेपि द्रष्टुं समागता इति भगवतोऽचिन्त्यसामर्थ्यं निरूपितम्। एते सर्वे क्षत्रिया एव सजातीया निरूपिताः। विजातीयान् निरूपयन् प्रथमं नन्दादीनपश्यन्। **गोपान् गोपीश्च उत्कण्ठिता** इति। भगवद्विषयिणी उत्कण्ठा भगवदीयान्वा सर्वान् सुसमृद्धान् एतावान् भगवतो विलास इति द्रष्टुं तासामुत्कण्ठा। उत्कण्ठायामेव **चिरमिति** विशेषणम् ।।१३-१४।।

व्याख्यार्थ–नारद देश को अब कौंकण देश कहते है दूसरे ११ तो जो कहे हैं वे प्रसिद्ध हैं, प्रत्येक के मन की वृत्ति के प्रकट करने के लिए देशों के पृथक २ नाम समास कर दिए

हैं, जो समासान्त पद में नहीं आए हैं उनको अन्याश्चैवेति पद से कहा है जो अपने पक्ष वाले ही थे। 'परान्' पद से शत्रु पक्ष वालों को सूचित किया है वे 'शतश' थे अर्थात् शत्रु पक्ष के बहुत आए थे वे भी देखने के लिए आये थे इस प्रकार भगवान् का अचिन्तनीय सामर्थ्य प्रगट किया है, ये सब सजातीय क्षत्रिय ही निरूपण किए, अब विजातियों का निरूपण करते हुए प्रथम नन्द आदि को देखा, उत्कण्ठावाले गोप तथा गोपियों को देखा उनकी उत्कण्ठा भगवद्दर्शन सम्बन्धी थी एवं सम्बन्धी से पूर्ण सर्व भगवदीयों के देखने की उत्कंठा थी,यह सर्व भगवान् का विलास ही है इसलिए गोप गोपियों को देखने की उत्कण्ठा हुई 'चिर' विशेषण से यह बताया कि यह उत्कण्ठा बहुत दिनों से इनको थी ।

आभास—ततस्तेषामन्योन्यसंभाषणादिकं लौकिकभाषया निरूपयति **अन्योन्येति** ।

आभासार्थ—बाद में उनका आपस में सम्भाषण लोकिक भाषा से हुआ जिसका निरूपण 'अन्योन्य' श्लोक में करते हैं

श्लोक—**अन्योन्यसंदर्शनहर्षरंहसा**
प्रोत्पुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः
आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जला
हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—परस्पर दर्शन होने से उत्पन्न अतिशय हर्ष के वेग से प्रफुल्लित हृदय और मुखारबिन्द की श्री (शोभा) बढ गई परस्पर गाढ आलिङ्गन करते हुए, नेत्रों से आसुओं की धाराएं बहने लगी जिससे शरीर में रोमाञ्च होने लगा और उत्कण्ठा बढने से वाणी भी रुक गई इस प्रकार की दशा होते ही आनन्द का अनुभव करने लगे ॥१५॥

सुबोधिनी—भगवद्भुक्तैः सह साक्षात्परंपरया वा सर्वेषामासक्तिरस्तीति सर्वे भगवदीया एवेति प्रमेयत्वं तेषाम् । अन्यथा तन्निरूपणे अधर्मः स्यात् । प्रकरणं च विरुध्येत । अतस्तदुक्तार्थमेव अन्योन्यदर्शनेन प्रेमाधिक्यं निरूप्यते । हर्ष आन्तरः तस्य तादृशो वेगः यो बहिरपि स्वानुभावं प्रकाशयति । अतो **हृद्वक्त्रसरोरुहयोः** उत्फुल्लयोः **श्रीर्येषां** दुरादृर्शनस्यैतावत् । आश्लेषस्य ततोऽप्यधिकमित्याह **आश्लिष्येति** । कायवाङ्मनसां सर्वेन्द्रियाणां च भाव उत्पन्न इति निरूपयति तत्र प्रथमं सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थं **हृष्यत्त्वच** इति कायिकः संतोषः **रुद्धगिर** इति वाचिकः । **मुदं ययुरिति** मानसः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—भगवद्भुक्तों के साथ अथवा परम्परा से सबकी आसक्ति है, इसलिए निश्चित् है, कि सब भगवदीय ही हैं इससे उनमें प्रमेयपन, है, यदि प्रमेयत्व न हो तो उसके निरूपण करने में अधर्म हो जावे, और प्रकरण का भी विरोध हो जाए अतः उसके कहे हुए अर्थ के लिए ही परस्पर दर्शन से प्रेम की अधिकता निरूपण की जाती है, भीतर हर्ष है, उसका ही वैसा वेग है जो बाहर भी अपना अनुभव प्रगट करता है, अतः प्रफुल्लित हृदय तथा मुख कमल की शोभा दूर से दर्शन

करते ही ऐसी बढ़ गई है, आलिङ्गन से तो इससे भी अधिकता हुई जिसका वर्णन करते हैं कि आलिङ्गन से काया, वाणी, और मन के तथा इन्द्रियों के भाव प्रगट देखने में आने लगे जैसे कि सर्व इन्द्रियों के उपलक्षणार्थ कहा कि 'हृष्यत्त्वचः' शरीर में रोम (रूँवाटे) खड़े हो गए जिससे काया का संतोष कहा वाणी रुक गई इससे वाणी की प्रसन्नता प्रगट की, आनन्द का अनुभव करने लगे जिससे मन का संतोष बताया ॥१५॥

आभास—एवं पुरुषाणामन्योन्यंकृताशि **स्त्रियश्च संवीक्ष्येति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार पुरुषों के परस्पर मिलन का वर्णन कर अब 'स्त्रियश्च संवीक्ष्य' श्लोक में स्त्रियों के मिलाप का वर्णन करते हैं

श्लोक—**स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृद-**
स्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे ।
स्तनैः स्तनान्कुङ्कुमपङ्कूरूषितान्
निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः ॥१६॥

श्लोकार्थ—अत्यन्त सौहार्द के कारण स्त्रियाँ परस्पर मन्दहास करती तथा सुन्दर कटाक्षों को करती हुई आपस में आलिङ्गन करने लगीं उस समय कुङ्कुमचर्चित स्तनों को परस्पर के स्तनों को टकराती हुई विशेष प्रेम उत्पन्न होने से भुजाओं से गाढ आलिङ्गन करने लगीं जिससे नेत्रों में से प्रेम के अश्रुओं की धार बहने लगी इस प्रकार के मिलन से बहुत प्रसन्न हुईं ॥१६॥

सुबोधिनी—तासां भावः प्रकटो जात इति ख्यापयितुं स्मितामलापाङ्गनिरूपणम् । **अतिसौहृदमान्तरं, स्मितं** मध्यस्थम्, **अमलापाङ्गा** बाह्याः, एतत्सहिता **दृष्टयो** यासाम् । **अभितः** आन्तरमानसव्यवधानराहित्येन रमणं वाचनिकम् । **स्तनैः स्तनानिति** । कायिको गाढाश्लेषः । **प्रणयेनाश्रुलोचना** इति सर्वेन्द्रियसंश्लेषः । एवमुभयेषामेकता निरूपिता ॥१६॥

व्याख्यार्थ—उन स्त्रियों में भाव प्रगट हुवा यह जताने के लिए उनके मन्दहास और निर्मल कटाक्षों का निरूपण करते हैं विशेष सौहार्द अन्दर का मन्द हास मध्य का भाव प्रगट करता है, तथा निर्मल कटाक्ष बाहर के भाव बताते हैं, स्त्रियों को दृष्टि इनके साथ वाली हैं अर्थात् स्त्रियों की दृष्टि में ये भाव भरे पड़े हैं 'अभितः' पद से यह भाव प्रगट किया है कि वाणी के रमण में आन्तरमानसभाव, किसी प्रकार रुकावट नहीं करता है, 'स्तनैः स्तनात्' पद से यह बताया है कि स्त्रियां काया से परस्पर गाढ आलिङ्गन करने लगी, प्रेम से नेत्रों में से आँसु से सर्व इन्द्रियों का परस्पर गाढ आलिङ्गन होने को सूचित किया है इस प्रकार दोनों की एकता निरूपण की है ॥१६॥

आभास—अतः सर्व एव भगवदीयाश्च भगवानिति प्रमेयं भगवानेव निरूपितो भवतीति तेषामर्थाद्भगवदीयत्वं निरूप्य साक्षान्निरूपयति **ततोऽभिवाञ्छेति** ।

आभासार्थ—अतः सब ही भगवदीय हैं और भगवदीय भगवद्रूप हैं इस लिए प्रमेय भगवान् ही निरूपण हुए, इस प्रकार उनको भगवदीयत्व निरूपण कर 'ततोऽभिवाद्य' श्लोक से साक्षात् निरूपण करते हैं—

श्लोक— **ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्ठैरभिवादिताः ।**
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथां मिथः ।।१७।।

श्लोकार्थ पश्चात् छोटों ने जब बड़ों को अभिवादन कर लिया तब उन्होंने वृद्धों को अभिवादन कर स्वागत किया और कुशल आदि पूछ लिया, फिर आपस में मिलकर कृष्ण चरित्र कहने लगे ।।१७।।

सुबोधिनी- वृद्धाभिवादनं धर्मः कीर्तनाङ्गं, **यविष्ठैरभिवादिता** इति हीनानां परिग्रहः । एवमुच्चनीचार्थं परिगृह्य सर्वोपकारार्थं **कृष्णकथां मिथः चक्रुः** । एतदेव परमवैष्णवलक्षणं 'तेन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य समाजयन्ते मम पौरुषाणि' इति वाक्यात् ।।१७।।

व्याख्यार्थ—वृद्धों को प्रणाम करना धर्म है कीर्तन का अङ्ग है छोटों ने अभिवादन किया इससे हीनों का अङ्गीकर कहा, इस प्रकार उच्च और नीच का ग्रहण कर सब के उपकार के लिए आपस में कृष्ण की कथा करने लगे यह ही परम वेष्णवों का लक्षण है जैसे कि कहा है भगवद्भक्त परस्पर मिल कर मेरे चरित्रों का वर्णन करते हैं ।।१७।।

आभास—एवं साधारणानां निरूप्य असाधारणानां स्वभावत एवासक्तियुक्तानामन्योन्यवैमनस्यलक्षणं दोषं परिहर्तुमुपालम्भपरिहारौ निरूप्येते **पृथा भ्रातृनिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार साधारणों का निरूपण कर, जिनकी स्वभाव से ही आसक्ति है उन असाधारणों का परस्पर वैमनस्य दोष मिटाने के लिए उपालम्भ और उसका परिहार दोनों का निरूपण करते हैं ।

श्लोक—**पृथा भ्रातॄन्स्वस्रीर्वीक्ष्य तत्पुत्रान्पितरावपि ।**
भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ संकथया शुचः ।।१८।।

श्लोकार्थ—कुन्ती, भाई, बहन इनके पुत्र, माता, पिता और भोजाई तथा भगवान् को देखकर परस्पर प्रेम की बातों से शोक को भूल गई ।।१८।।

सुबोधिनी -**भ्रातरौ** वसुदेवादयः । **स्वसारः** श्रुतदेवाद्याः । **तत्पुत्राः** बलशिशुपालादयः । **पितरौ** मारिषाशूरौ । **भ्रातृपत्नीः** देवक्याद्याः **मुकुन्दः** सर्वेषां मोक्षदानार्थमागतो भगवान् । **चकारा**त्तस्य सर्वसंबन्धो निरूपितः । एवं **संकथया शुचो जहौ** । सामान्यप्रश्नेनैव शोकलक्षणो दोषो निवृत्तः ।।१८।।

व्याख्यार्थ - वसुदेवादि भाई, श्रुतदेवादि बहन, उनके पुत्र बल शिशुपाल आदि, पिता मारिष तथा शूर, भौजाई देवकी आदि, सबको मोक्षदाता भगवान् 'च' से उनका सबसे सम्बन्ध कहा है इस प्रकार के चरित्र से शोक को मिटा या सामान्य प्रश्न से ही शोक लक्षणवाला दोष मिटाया ।।१८।।

आभास—विशेषनिराकरणार्थमुपालम्भमाह **आर्यभ्रातरिति** ।

आभासार्थ - विशेष निराकरण करने के लिए 'आर्य भ्रातः' श्लोक से उपालम्भ उल्हाना) देती है !

श्लोक— कुन्त्युवाच—**आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ।**
यद्वा आपत्सु मद्वार्तां नानुस्मरथ सत्तमाः ।।१९।।
सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम् ।।२०।।

श्लोकार्थ—कुन्ती कहने लगी कि हे आर्य ! हे भाई ! मैं मेरी आत्मा को अकृतार्थ मानती हूँ; क्योंकि तुम समर्थ होते हुए भी मुझ पर जिस समय विपत्तियाँ आ रही हैं, उस समय सुध नहीं लेते हो । जिससे देव रूठ जाता है, उसका कोई भी सम्बन्धी अर्थात् ज्ञाति वाले, पुत्र, भाई, माता और पिता ये भी सुध नहीं लेते हैं ।।१९-२०।।

सुबोधिनी—दुष्टस्तु न पृच्छत्येव त्वं **त्वार्यः** तथापि न पृच्छसि इत्याश्चर्यम् । तत्र स्वयमेव हेतुं कल्पयति **अहमात्मानमेव अकृताशिषं** अल्पभाग्यं **मन्ये** । न कृताः आशिषो भाग्यहेतु युक्ता इति । न तु त्वामुपेक्षकं मन्ये । भाग्याभावे बन्धूनां प्रश्नाद्यभावः लोकेऽपि सिद्ध इति तं निरूपयति **सुहृद** इति । अस्माकं तु **आपत्सु** एकस्या **अपि वार्तां नानुस्मरन्ती**ति किमाश्चर्यम् । **यस्य दैवमदक्षिणं** तं सुहृदादयः केऽपि न स्मरन्ति सर्वदैवापदेत्यापत्स्वेवेति न वक्तव्यम् । **दैवमदृष्टाभिमानिनी** देवता । **अदक्षिणं** प्रतिकूलम् ।।१९-२०।।

व्याख्यार्थ—जो दुष्ट हैं वे तो विपत्ति के समय में नहीं पूछते हैं आपतो आर्य हैं, आर्य होते हुए भी नहीं पूछते हैं, यह आश्चर्य है । यों कहकर इसके कारण का, स्वयं ही कल्पना करती है, मैं अपने को मन्द भागिनी समझती हूँ । भाग्य के हेतु युक्त आशिष प्राप्त नहीं की है, इसलिए तुम्हें विपरीत नहीं मानती हूँ । भाग्य नहीं होता है, तब बान्धव पूछते भी नहीं, यह लोक में सिद्ध ही है । उसका निरूपण करती है, कि आपदाओं में एक भी बात कोई, याद नहीं करते हैं, इस लिए हमको क्यों आश्चर्य करना चाहिए जिसका दैव उलटा है उसको कोई मित्र आदि याद नहीं करते हैं । सर्वदा ही आपदा है, आपदओं में यों नहीं कहना चाहिए देव अदृष्ट का अभिमानी देवता है 'अदक्षिण' पद का भावार्थ है प्रतिकूल (विपरीत) ।।१९-२०।।

आभास—उपालम्भं परिहरति वसुदेव **अम्बेति** ।

आभासार्थ—'अम्ब मास्मानसूयेथा' श्लोक से वसुदेवजी उपालम्भ का परिहार करते हैं –

श्लोक—वसुदेव उवाच—**अम्ब मास्मानसूयेथा देवक्रीडनकान्नरान् ।**
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यते हि वा ।।२१।।

श्लोकार्थ– वसुदेवजी ने कहा, कि हे अम्ब ! देव के खिलौने जो हम मनुष्य हैं, तिन पर दोष मत लगाईये क्योंकि जगत् में सब लोक ईश के वश में हैं, करना और करवाना उसके आधीन है ।।२१।।

सुबोधिनी–कनिष्ठभगिनीं स्नेहान्मातृनाम्ना संबोधयति । अस्मान् भ्रात्रादीन् **मा असूयेथाः** दोषारोपणेन मा द्राक्षीः । तत्र हेतुः **देवक्रीडनकानिति** । देवोऽत्र कालः **स एवावतीर्णः** अतो देवपदम् । तत्रापि **नरान्** । मनुष्याः सर्वसेविका इति कथमेवमिति चेत्तत्राह **ईशस्य हि वशे लोक** इति । प्रयोजकर्तृत्वे साक्षात्कर्तृत्वे च ईशस्य नियन्तुः कालस्यैव वशे । युक्तश्चायमर्थः । तदुदर एवोत्पन्नत्वात् । यो हि यस्य गृहे उत्पद्यते स तस्य वशे भवति । हीति समुच्चयार्थे **वेत्य**नादरे । सर्वाः क्रियास्तदधीना इत्यर्थः । २१।।

व्याख्यार्थ—छोटी बहिन को यहाँ अम्ब ! अर्थात् माता कहा है, जिसका कारण स्नेह है, स्नेह के वश होकर ही छोटी बहिन को माता कहा है, हम भ्राताओं को दोष दृष्टि से मत देख अर्थात् हम पर क्रोध मत कर. क्योंकि हम सब देव के खिलोने हैं । देव जैसे खिलाता है वैसे ही खेल रहे हैं। कारण कि, मनुष्य सब उसके सेवक हैं देव यहां काल है वह ही अवतार ले आया है, इसलिए 'काल क्रीड़नक' न कह कर 'दैव क्रीडानक' कहा है, सेवक के नाते सब उसके ही आधीन हैं । अतः कर्तापन में प्रयोजक हो, अथवा साक्षात् कर्ता बने, नियामक काल रूप ईश्वर के ही वश में सब हैं यही अर्थ उचित है, उसके उदर में ही उत्पन्न होने से उसके वश में हैं, जैसा कि जो जिसके गृह में उत्पन्न होता है, वह उसी के ही वश में रहता है, 'हि' शब्द सङ्ग्रह के अर्थ में है 'वा' शब्द अनादर अर्थ में है, सारांश यह है, कि सब क्रियाएँ काल रूप देव के आधीन हैं ।।२१।।

आभास—एवं सामान्यतः पराधीनत्वमुक्त्वा विशेषतोऽप्याह **कंसप्रतापिता** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सामान्य रूप से पराधीनपन कहकर अब 'कंसप्रतापिताः' श्लोक से विशेष रूप से कहते हैं ।

श्लोक—**कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम् ।**
एतह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ।।२२।।

श्लोकार्थ—हम सब कंस से दुःखी होकर अनेक दिशाओं में गए अब ही हे बहिन ! फिर काल ही इस अपने स्थान पर लाया है ।।२२।।

सुबोधिनी—प्रकर्षेण तापं प्रापिताः **सर्व** एव यादवाः **दिशं दिशमष्टदिक्षु यातः एतह्येव** इदानीमेव भोगेन कालो न स्मृतः । ततः कंसवधं सांप्रतमेव जातमिति मन्यते । **पुनः स्थानं** यथा प्रतापनात्पूर्वं **दैवेन** भगवता कालेना**सादिताः** । **स्वस** इति संबोधनमप्रतारणाय ।।२२।।

व्याख्यार्थ – सब यादवों ने कंस से बहुत दुःख पाए आठों दिशाओं में जहाँ तहाँ जाकर जैसे तैसे निवास किया, अब ही भोगसे काल कैसे गुजरा, यह स्मरण न रहा । पश्चात् कंस का वध अब ही हुआ यों माना जाता है । फिर अपने स्थान पर दुःख भोगने से पहले जैसे रहे हुए थे । वैसे ही भगवान् काल ले आए हैं, तुम बहिन हो जिससे तुमसे कपट (धोखा) नहीं करते हैं जो सत्य है वह ही कर रहा हूँ ।।२२।।

आभास—एवं दोषपरिहारमुक्त्वा गुणान्वक्तुं प्रथमतो मानसमाह **वसुदेवोग्रसेनाद्यैरिति** ।

आभासार्थ—वैसे दोष का परिहार कह कर, गुणों का वर्णन करने के लिए पहले मानस गुण 'वसुदेवोग्रसेनाद्यैः' श्लोक से वर्णन करते है

श्लोक —श्री शुक उवाच —**वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः ।**
आसन्नच्युतसंदर्शपरमानन्दनिर्वृताः ।।२३।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि वसुदेव और उग्रसेन आदि यादवों से अर्चित वे राजा लोग भगवान् के दर्शन कर परमानन्द में मग्न हो गए थे ।।२३।।

सुबोधिनी—वसुदेवोऽलौकिको महान् । **उग्रसेनो** लौकिकः तौ आदिभूतौ येषां यदूनां तैरग्रे वक्ष्यमाणाः सर्व एवार्चिताः सन्तः महत्पुरस्कारेण गतमूलदोषाः । **अच्युतसंदर्शनेन** यो जातः **परमानन्द** तेनः **निवृता** आसन् निर्वृतिर्मानसी ।।२३।।

व्याख्यार्थ वसुदेव अलोकिक होने से महान् है उग्रसेन लोकिक होते हुए भी महान् है । वे, दोनों यादवों के अगुए हैं उनसे जो सब आये हैं एवं जो सब आने वाले बताए जाएँगे वे सब महान् पुरस्कार से पूजित हुए, जिससे उनके सब दोष मूल से नष्ट हो गए अच्युत भगवान् के दर्शन हो जाने से परमानन्द में मग्न हो गए यह आनन्द मानस हुआ ।।२३।।

आभास तान् गणयति **भीष्म** इति त्रिभिः ।

आभासार्थ—'भीष्मो द्रोणो' इस श्लोक से तीन श्लोकों से उनकी गणना करते हैं

श्लोक—**भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा ।**
सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सञ्जयो विदुरः कृपः ।।२४।।

श्लोकार्थ - भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र गांन्धारी पुत्रों के साथ स्त्री सहित पांडव कुन्ती, संजय, विदुर और कृपाचार्य ।।२४।।

सुबोधिनी—सात्त्विका राजसास्तामसाश्च क्रमान्निरूपिताः **अम्बिकापुत्रो** धृतराष्ट्रः। **ससुता** दुर्योधनादिसहिताः **तथेति** तस्याः सात्त्विकत्वसदोहव्युदासः। नव भेदाः सात्त्विकाः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—सात्विक, राजस और तामस क्रम से निरूपण किए हैं पुत्रों के साथ अम्बिका का पुत्र धृतराष्ट्र, गान्धारी 'तथा' पद से गान्धारी के सात्विकपने का निषेध कहा है, सात्विकों के नव (नौ) भेद हैं ॥२५॥

आभास—तथैव नवविधान् राजसान् निरूपयति **कुन्तिभोज** इति ।

आभासार्थ—वैसे ही नव प्रकार के राजसों का 'कुन्ति भोज' श्लोक में वर्णन करते है

श्लोक—**कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् ।**
पुरुजिद्द्रुपदः शल्यो धृष्टकेतुः सकाशिराट् ॥२५॥
दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ ।
युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः ॥२६॥

श्लोकार्थ—कुन्ति भोज, विराट, भीष्मक, नग्नजित् पुरुजित् द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशीराज, दमघोष विशालाक्ष मिथिला का राजा मद्रदेश का राजा केकय देश का राजा युधामन्यु सुशर्मा बाह्लिक आदि और उनके पुत्र ॥२५-२६॥

सुबोधिनी—महानिति नग्नजितो विशेषणम् **दमघोषादयस्तामसाः** मद्रदेशाधिपतिः केकयदेशाधिपतिश्च। **ससुता** इति भूरिश्रवादयो भिन्नतया निरूप्याः। अतस्तेऽपि नवविधाः ॥२५-२६॥

व्याख्यार्थ—'महान्' यह नग्नजित् जिनका विशेषण है, कुन्ति भोज से काशिराज तक नव राजस हैं और दमघोष से लेकर मद्र देश तथा केकय देश के राजा एवं सुत सहित भूरिश्रवादि अलग कहे हैं अतः वे भी नव प्रकार के तामस हैं ॥२५-२६॥

आभास—निर्गुणान्परमसात्त्विकान्वा संबन्धाभावान्निरूपयति **राजान** इति ।

आभासार्थ—निर्गुण अथवा परम सात्विकों का सम्बन्ध के आभाव से 'राजा नोऽन्ये' श्लोकों में वर्णन करते हैं

श्लोक—**राजाननोन्ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः ।**
श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्याविस्मिताः ॥२७॥
अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ।
प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन्कृष्णपरिग्रहान् ॥२८॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठर के अनुयायी दूसरे भी राजा लोग वहाँ आए और लक्ष्मी निवास भगवान् के वपु (श्री अङ्ग) को और उनकी स्त्रियों को देख कर विस्मित हुए ॥२७॥ अनन्तर राम कृष्ण से पूजा पाकर, प्रसन्न हो कृष्ण के परिग्रह यादवों की प्रशंसा करने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी—**अन्ये** पूर्वोक्तव्यतिरिक्ताः **च**कारात्तत्संबन्धिनश्च। नन्वेते संबन्धिनस्ते त्रिगुणा जाताः अन्ये कथं निर्गुणाः परमसात्त्विका वा जातास्तत्राह **युधिष्ठिरमनुव्रता** इति। परमवैष्णवसङ्गात् तच्छीलेन शिक्षिताः। एवं चतुर्विधा अप्येते **श्रीनिकेतं** भगवतो **वपुर्दृष्ट्वा विस्मिताः**। इदं वपुर्ध्यानगम्यं कथं दृश्यत इति ध्यानगम्ये नियामकं **श्रीनिकेत**मिति। **सस्त्रीक**मिति सहजभार्यायां विद्यमानायां पुनरन्यासां परिग्रहोऽप्याश्चर्यमिति। तासामैकमत्य कान्त्यतिशयं वा दृष्ट्वा विस्मितानां निरन्तरस्मरणेन ज्ञानोत्पत्तौ मुक्तिः स्यादित तत्सांप्रतमनभिप्रेतमिति **कृष्णरामाभ्यां** तेषां पूजा समारब्धा। **सम्यक्** प्राप्तं **समर्हणं** येषामिति। ततो भगवदिच्छया भक्ता एव भूत्वा भगवत्स्तोत्रं कृतवन्त इत्याह **प्रशशंसुरिति**। **मुदा युक्ता** इत्यन्तस्तोषः केवलवाचिकत्वं व्यावर्तयति। भगवांस्तु सर्वैरेव स्तूयते। ते विरलाः ये भगवत्परिगृहीतान् स्तुवन्ति। अतः कृष्णपरिगृहीतान् **वृष्णीन् प्रशशंसुः** ॥२८॥

व्याख्यार्थ—पहले जिनका वर्णन हुआ है उनसे पृथक दूसरे 'च' पद से उनके सम्बन्धी भी थे ये सम्बन्धी जब त्रिगुण हैं तब ये दूसरे निर्गुण वा परम सात्विक कैसे हुए? जिसके उत्तर में कहते हैं, 'युधिष्ठिरमनुव्रता' युधिष्ठिर के अनुयायी थे, युधिष्ठिर परम वैष्णव थे अतः उनके सङ्ग से उनने वैसी शिक्षा प्राप्त की इस प्रकार ये चार ही श्री के निवास स्थान भगवान् के श्रीअङ्ग को देख कर अचम्भे में पड़ गए यह श्री अङ्ग ध्यानगम्य कैसे हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि ध्यानगम्य इसलिए है कि लक्ष्मी के निवास स्थान हैं। सहजभार्या के होते हुए भी फिर अन्यों का परिग्रह भी आश्चर्य कारक है। उनकी एक मति तथा कान्ति की बहुलता देख कर विस्मित हुवे। राजा यदि निरन्तर स्मरण करें तो ज्ञान की उत्पत्ति हो जावे, जिससे मुक्ति की प्राप्ति हो, यों होना भगवान् को अब अभीष्ट (इच्छित) नहीं है, इसलिए ये राम व कृष्ण ने इनकी पूजा करनी प्रारम्भ की अच्छी तरह पूजित होने से प्रसन्न हुए तथा भगवदिच्छा से भक्त भी बन गए। अतः भगवान् की स्तुति करने लगे, मुदायुक्ताः' पद से यह बताया है कि केवल दिखावे के लिए वाणी से स्तुति नहीं की किन्तु अन्तः करण शुद्ध एवं प्रसन्न होने से अन्तःकरण के आह्लाद से भाव पूर्वक प्रशंसा करने लगे। भगवान् की तो सब स्तुति करते हैं किन्तु वे विरले (थोड़े) हैं जो भगवान् के परिग्रह की भी स्तुति करें अतः उन्होंने कृष्ण के परिग्रह यादवों की प्रशंसा की है। ॥२६-२८॥

आभास—प्रशंसामाह त्रिभिः सात्त्विकादि भावेन **अहो** इति ।

आभासार्थ—'अहो भोजपते' श्लोक से लेकर तीन श्लोकों में सात्विक आदि भाव से प्रशंसा का वर्णन करते हैं !

श्लोक—**अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।**
यत्पश्यतासकृत्कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—अहो भोजपते ! इस लोक में मनुष्यों में यदि कोई भाग्यशाली है, जिनका जन्म सफल हुआ हो, तो आप ही हैं, क्योंकि जिस श्रीकृष्ण का योगियों को समाधि में भी महान् कष्ट से दर्शन होता है, उनका आप निरन्तर दर्शन पा रहे हो ।।२९।।

सुबोधिनी—भगवद्दर्शनं दुर्लभं मत्वा तत्तोषामनायासेन जायत इति हे **भोजपते** राजन् **यूयमेव जन्मभाजः** सुतरां **नृणां** मध्ये । वैकुण्ठवासिनां तु कदाचिद्भवतीति । योगः कदाचित्परिपक्वः सकृद्**दर्शयति** । भवन्तस्त्वसकृद्वारं वारं **पश्यत** । पश्यथेति पाठे तादेशाभावश्छान्दसः ।।२९।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के दर्शन बहुत दुर्लभ हैं, यों मान कर, वे दुर्लभ दर्शन बिना श्रम के स्वतः निरन्तर हो रहे हैं, इस प्रकार हे भोजपते राजन् ! मनुष्यों में वास्तविक सफल जन्म वाले आप ही हैं । वेकुण्ठ वासियों को भी कदाचित् दर्शन होते हैं और यदि योग भी पूर्ण सिद्ध हो, तो एक बार दर्शन होता है. आप तो बार बार दर्शन पा रहे हैं यदि श्लोक में 'पश्यथ' पाठ होतो समझना चाहिए कि यह पाठ च्छान्दस' अर्थात् वैदिक है इस लिए यहाँ 'त' का आदेश नहीं हुवा है ।।२९।।

आभास—एवं भगवद्दर्शनं स्तुत्वा भगवतो गुणश्रवणादीन् धर्मान् स्तुवन्ति **यद्विश्रुतिरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के दर्शन की प्रशंसा कर भगवान् के गुणों के श्रवण आदि धर्मों की 'यद्विश्रुतिः' श्लोक से प्रशंसा करते हैं ।

श्लोक—**यद्विश्रुति श्रुतिनुतेदमलं पुनाति**
पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।
भूः कालभाजितभगापि यदङ्घ्रिपद्म-
स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ।।३०।।

श्लोकार्थ—वेद से प्रशंसित जिन की कीर्ति, व जिनके चरण धोवन का जल (गंगा) और जिनके वचन रूप वेद, इस जगत् को अति पवित्र करते हैं और यह पृथ्वी, काल की गति से शक्ति होने पर भी जिनके चरणाविन्द के स्पर्श से उत्तम शक्ति पाकर हमें सर्व पदार्थ दे रही है ।।३०।।

सुबोधिनी **विश्रुतिः** कीर्तिः श्रुतिभिः सर्वैरेव वैदैर्नुता । अनेनाधिक्यं माहात्म्यं चोक्तम् । **श्रुतिभिः** श्रोत्रेन्द्रियैर्वा **नुता** अतिरसालत्वेनात्यादरं गृहीता । **इदं** जगदेवात्यर्थं **पुनाति** । भगवत्कीर्तेः विषयत्वेन भगवत्संबन्धः न तु साक्षात् । तादृश्यपि चेत्**पुनाति** तदा साक्षात्संबद्धो भगवान् किं वक्तव्य इति माहात्म्यं निरूपितं भवति । कीर्तिः सात्त्विकी । गङ्गा राजसी । **शास्त्रं** ततोऽन्यदिति । सर्वेषां तुल्यत्वायाह **पादावनेजनपयः** । **शास्त्रं वचो** गीता भागवतं च । एतद्द्वयमप्यलं पुनाति । एवं कीर्त्यादिद्वारापि भगवन्माहात्म्यमुक्त्वा प्रकारान्तरेण पुनः साक्षादेवाह **भूरिति** । **कालेनातिबलिष्ठेन भक्षितभगापि** गतदृष्टादृष्टसामर्थ्यापि **यदङ्घ्रिस्पर्शमात्रेणैव उत्थाः** उत्थिताः सर्वा एव **शक्तयो** यस्याः तादृशी भूत्वा **नोऽस्मभ्यं** सर्वानिवार्थान् **वर्षति** । अनेन कालग्रस्तस्यापि भगवच्चरणस्पर्शे पुनः प्रत्यापत्तिर्निरूपिता । पूर्वस्माच्चाधिक्यं सर्वोपजीव्यत्वं च निरूपितम् ।३०।

व्याख्यार्थ—सर्व श्रुतियों ने जिनकी कीर्ति गाई है, इससे श्रीकृष्ण का अधिक महात्म्य कहा है, अथवा श्रोत इन्द्रियों ने आप की कीर्ति अतिशय रसाल होने से अतिशय आदर से ग्रहण की है । इस जगत् को वह बहुत ही पवित्र कर रही है । भगवत् कीर्ति का विषयपन से भगवान् से सम्बन्ध है साक्षात् सम्बन्ध नहीं है,ऐसा होते हुए भी यदि पवित्र करती है,तो यदि भगवान् साक्षात् संबद्ध हो, तो क्या कहा जाए यह कह नहीं सकते, यों महात्म्य निरूपण किया । कीर्ति सात्विकी है, गङ्गा राजसी है और शास्त्र उनसे दूसरे प्रकार का है, सब के तुल्यपन के लिए कहा है, कि 'पादावनेजनपयः' अर्थात् गङ्गा जी 'शास्त्रं वचो' कहने का भावार्थ है गीता और भागवत, ये दोनों भी निर्मल कर पवित्र करते हैं इस प्रकार कीर्ति आदि द्वारा भी भगवान् का महात्म्य कह कर फिर अन्य प्रकार से साक्षात् के द्वारा जो हुआ है वह कहते है, 'भूः' अति बलवान् काल ने जिसकी दृष्ट और अदृष्ट सामर्थ्य कर दी है, तो भी, साक्षात् भगवान् के चरणारविन्द के केवल स्पर्श से ही जिसकी सर्व शक्तियाँ जाग्रत हो गई हैं, ऐसी पृथ्वी बलवती बन कर हम लोगों को सब प्रकार के पदार्थ दे रही है । यों कहने से यह बताया है, कि काल से ग्रस्त में भी भगवान् के चरणस्पर्श से पुनः वही पूर्ण शक्ति आ जाती है, इस प्रकार कह कर यह सूचित किया है, कि चरण स्पर्श से पहले से भी विशेषता उसमें आ जाती है जिससे सर्व के लिए उसमें उपजीव्यता (जिस पर जिविका का निर्भर हो) प्रकट हो जाती है यों निरूपण किया हैं ।।३०।।

आभास—एवं दर्शनस्पर्शनस्य माहात्म्यमुक्त्वा तादृशदर्शनादिकं सर्वं येषाँ मिलितं भवति तेषां भाग्यं किं वक्तव्यमित्याह **तद्दर्शनेति** ।

आभासार्थ—यों दर्शन और स्पर्शन के महात्म्य का वर्णन कर, ऐसे दर्शन आदि सर्व जिनको मिलते हैं उनके भाग्य का क्या वर्णन किया जावे, यह 'तद्दर्शन' श्लोक मे वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-**
शय्याशनासनसयौनसपिण्डबन्धः ।
येषां गृहे नरकवर्त्मनि वर्ततां नः
स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ।।३१।।

श्लोकार्थ—उन साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के साथ दर्शन,स्पर्शन,अनुसरण से और इनके साथ वार्तालाप करना तथा सोना एवं भोजन करना, सपिण्ड और कन्या लेन-देन आदि सम्बन्ध से बन्धे हुए हों आदि नव प्रकार के सम्बन्ध से श्री कृष्ण के साथ आपका संबंध जुड़ा हुआ है, यह आपका सम्बन्ध इनके साथ नरक के द्वार गृह में हो रहा है जिससे

आपको स्वर्ग और मोक्ष की स्पृहा भी नहीं रहती है, यही आपका सबसे अधिक उत्कर्ष है ॥३१॥

सुबोधिनी—तादृशं **दर्शनं, स्पर्शनमनुपथं** सहचलनं, **प्रकृष्टजल्पाः** इष्टकथाः, **शय्या** शयनं, **अशनं** भोजनम्, **आसनमुपवेशनम्, सयौनं** स्त्री-कृतः संबन्धः, **सपिण्डो** गोत्रसंबन्धः। एवंविधैर्नव-विधैर्**बन्धो** यस्य साक्षात्संबन्धो भगवता सहा-स्तीति। सगुणस्तु संबन्धो दुर्लभ इति स एवोक्तः। किञ्च। **येषां भवतां नरकवर्त्मनि गृहे वर्ततां** नरक आवश्यकः। साधारणगृहमात्रमेव नरकसाधनम्। सुतरां मर्यादारहितानामस्माकं, वो वा। **स्वयमेव विष्णुः** सर्वसंदेहनिवारकः। य एव संबन्धो नरकहेतुरन्येषां स एव भवतां **विष्णुर्जात** इति। ततोऽपि किमित्याशङ्कां वार-यितुं विष्णोः प्रकृतोपयोगिगुणमाह **स्वर्गापवर्ग-योरपि** विगत**रमण**रूपः। भगवति दृष्टे न कोऽपि स्वर्गं मोक्षं वा रमत इति। विरामो वा। तावदेव स्वर्गापवर्गौ प्राप्नोति यावद्भगवानेवं संबद्धो न प्राप्यते। एवं तान् स्तुत्वा परमभक्त्याविष्टाः तूष्णीं स्थिताः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—ऐसा साक्षात् श्रीकृष्ण का दर्शन, स्पर्शन तथा उन के साथ घूमना, सम्भाषण करना, सोना, भोजन करना, बैठना, कन्या लेन देन का सम्बन्ध, गोत्र सम्बन्ध. इस प्रकार नव भाँति जिसका साक्षात् सम्बन्ध भगवान् के साथ है, सगुण सम्बन्ध तो दुर्लभ होता है, इस लिए वह सम्बन्ध ही कहा है, किञ्च नरक द्वार गृह में रहने वाले आपको नरक प्राप्ति अवश्यक है साधारण-तया केवल गृह भी नरक का साधन है, तो मर्यादा रहित हम और आपको तो सहज ही नरक प्राप्त ही है तो भी दूसरों के लिए जो घर नरक का द्वार है, वह ही घर, आप के लिए विष्णु प्राप्ति कर हुआ है। स्वयं विष्णु ही सर्व संदेह के निवारक हैं यों हुआ तो भी क्या हुआ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि विष्णु ने जो उपयोगी गुण किया है, वह यह है कि आपको भगवान् के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध होने से स्वर्ग और मोक्ष की भी तृष्णा नहीं है। भगवान् के दर्शन मात्र होने पर किसी के मन में भी स्वर्ग वा मोक्ष के आनन्द की चाहना नहीं रहती है अथवा वहाँ उनको आनन्द भी देखने में नहीं आता है,तब तक ही स्वर्ग और मोक्ष अच्छे लगते हैं और उनमें आनन्द आता है,जब तक भगवान् से इस प्रकार सम्बन्ध नहीं होता है,इसी तरह उनकी स्तुति करने से परम भक्ति के आवेश से युक्त हो गए, जिससे विशेष बोल न सके ॥३१॥

आभास—एवमेकविधानां भगवत्परत्वं निरूपितम्, प्रमेयत्वाय द्वितीयानामाह **नन्दस्त्रे**ति।

आभासार्थ—इस प्रकार सजातियों का भगवत्परायण कहकर अब विजातियों के प्रमेयपन के लिए 'नन्दस्तत्र' श्लोक से वर्णन करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान् श्रुत्वा कृष्णपुरोगमान्।**
तत्रागमद्व्रतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया ॥३२॥

श्लोकार्थ नन्दजी ने सुना कि श्रीकृष्ण के साथ यादव कुरुक्षेत्र आए हैं,

अतः उनके देखने की इच्छा से आप भी गाड़ों में सबसामान भर गोपों को साथ ले कुरुक्षेत्र आए ॥३२॥

सुबोधिनी—स दूरे स्थितः पूर्वभागे, ते तु पश्चिमभागे स्थिताः अतः पश्चाच्छ्रुत्वा सर्वैः सहितस्तत्र गतः। **तत्र** कुरुक्षेत्रे **यदून् प्राप्तान्** **कृष्णपुरोगमान्** भगवानेव **पुरोगमो** येषामिति भगवदैश्वर्यं तत्र द्रष्टव्यमिति। **गोपैरनोभिश्च** सर्वसामग्र्या **वृतः** भगवन्तं द्रष्टुं **तत्रागतः** ।३२।

व्याख्यार्थ—वह (नन्दरायजी) पूर्व की तरफ रहने से यादवों से दूर थे; क्योंकि यादव पश्चिम में रहते थे, अतः वे जब कुरुक्षेत्र आ गए, तब नन्दरायजी ने सुना कि यादव अपने नेता श्रीकृष्ण के साथ कुरुक्षेत्र पहुँच गए हैं, तब भगवान् के ऐश्वर्य देखने की मन में उत्कण्ठा उत्पन्न हुई, जिससे उनको देखने की इच्छा से गाड़ी में सब सामान भर गोप आदि सबको साथ में ले कुरुक्षेत्र आ गए ॥३२॥

आभास—तस्मिन् यादवानां पूर्वापेक्षया विशेषानुवृत्तिमाह **तं दृष्ट्वेति**।

आभासार्थ—यादवों को नन्दादि को पहले से विशेष देखने की इच्छा हुई, वह 'तं दृष्ट्वा' श्लोक से कहते।

श्लोक—**तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः।**
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥३३॥

श्लोकार्थ—नन्दरायजी को देखकर यादव बहुत प्रसन्न हुए और जैसे प्राण आने से इन्द्रियाँ उठकर खड़ी हो जाती हैं वैसे वे भी उठकर खड़े हो बहुत दिनों से दर्शन होने के कारण कायर हुए यादव उनका गाढ (जोर से) आलिङ्गन करने लगे ॥३३॥

सुबोधिनी दर्शनमात्रेणैव सर्व**वृष्णयो हृष्टाः** तेषां मनःप्रीतिर्जाता। ततो देहेनापि मनःप्रेरण-रहितेनापि उत्थिता इत्याह **तन्वः प्राणमिवो-त्थिता** इति। यथा प्राणेषु समागतेषु करचरणा-द्यवयवाः स्वयमेवोत्थिता भवन्ति। अनेनैताव-त्कालं यादवा मूर्च्छिता इव स्थिता इत्युक्तम्। अतः **परिषस्वजिरे** क्रमेण यथालाभम्। किञ्च। **चिर**दर्शनेन बहुकालजातदर्शनेन **कातराश्च** जाताः। कदाचिदस्मान् त्यक्त्वा गमिष्यतीति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—दर्शन होते ही यादव प्रसन्न हुए, मन से प्रेम उत्पन्न होने लगा, बिना प्रेरणा के ही देह खड़ी होने लगी, जैसे प्राण आने से हस्त-पादादि अवयव आप ही सजग हो जाते हैं। इससे यह सूचित किया कि इतने समय तक यादव मानों मूर्च्छित-से पड़े थे, अब सजग हो क्रम से ज्यों-ज्यों मिलने का अवसर आता गया, त्यों त्यों प्रत्येक गाढ आलिङ्गन करने लगा। बहुत समय के बाद दर्शन होने से अधीर हो गए थे, यों मन में शङ्का होती थी, कदाचित् हमको छोड़कर चले जायेंगे तो आलिङ्गन का और मिलन का आनन्द हमको न मिलेगा ॥३३॥

आभास—एवं साधारणानामुक्त्वा पूर्ववद्वसुदेवस्य विशेषमाह **वसुदेवः परिष्वज्येति** ।

आभासार्थ—यों साधारण यादवों का हाल कहकर पहले की तरह वसुदेवजी का 'वसुदेवः परिष्वज्य' श्लोक से विशेष कहते हैं ।

श्लोक—**वसुदेवः परिष्वज्य संप्रीतः प्रेमविह्वलः ।**
स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासं च गोकुले ॥३४॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी कंस के दिए हुए दुःखों को और अपने पुत्र गोकुल में छोड़े थे उसका स्मरण कर विह्वल हो गए थे किन्तु यादवों से मिलकर जो आनन्द हुआ उसे अन्तःकरण में उत्पन्न प्रेम से प्रसन्न हुए ॥३४॥

सुबोधिनी—सम्यक् **प्रीतः** अन्तः प्रेम्णा च बहिर्विह्वलो जात इति तस्यैतावत्येवावस्था निरूपिता । विह्वलतायां हेतूनाह **स्मरन्कंसकृतान् क्लेशानिति** । पुत्रमारणादीन् **गोकुले** कृष्णबलभद्रयोः स्थापनं च ॥३४॥

व्याख्यार्थ वसुदेवजी भीतर के प्रेम से अत्यन्त प्रसन्न हुए, किन्तु बाहर विह्वल हो गए, उनकी ऐसी अवस्था का निरूपण किया । बाहर की विह्वलता के कारण कहते हैं कि (१) कंस ने जो दुःख दिए थे, उनका स्मरण होने लगा । (२) अपने पुत्रों को कंस ने मारा, जिससे राम कृष्ण को गोकुल में छोड़ना पड़ा; इन कारणों से बाहर विह्वल देखने में आए ॥३४ ।

आभास—ततो नन्दस्य साक्षाद्भगवद्दर्शनमाह **कृष्णरामौ परिष्वज्येति** ।

आभासार्थ - 'कृष्णरामौ' श्लोक से नन्द को साक्षात् भगवान् के दर्शन हुए, जिसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।**
न किंचनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! श्रीकृष्ण और राम ने माता-पिता (यशोदा और नन्दरायजी) को आलिङ्गन कर प्रणाम किया, जिससे प्रेम के कारण नेत्रों से आँसू बहने लगे और कृष्ण गद्गद होने से रुद्ध हो गए, अतः कुछ भी न बोल सके ॥३५॥

सुबोधिनी—उभौ प्रथमं **परिष्वज्य पितरावित्यभिवाद्य** आविर्भूतप्रेम्णा **साश्रुकण्ठौ** भूत्वा **न किञ्चनोचतुः** तूष्णीं स्थितौ । नन्दे कायिकमानसिक एव व्यापारो भगवता प्रदर्शितः । न तु वाचनिक इति । **कुरूद्वहेति** विश्वासार्थं संबोधनं ॥३५॥

व्याख्यार्थ—दोनों भाई राम और श्रीकृष्ण ने पहले आलिङ्गन किया, पश्चात् माता-पिता को प्रणाम किया, जिससे प्रेम उमड़ आया, उससे कण्ठ रुद्ध (रुन्ध) गया, अतः कुछ भी न बोल सके । नन्द में भगवान् ने कायिक तथा मानसिक व्यापार दिखाया, वाणी का नहीं । 'कुरुद्वह' सम्बोधन विश्वास दिलवाने के लिए है ॥३५॥

आभास—ततो नन्दकृत्यमाह **तावात्मासनमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् 'तावात्मासनम्' श्लोक से नन्द का कृत्य कहते हैं ।

श्लोक—**तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।**
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ॥३६॥

श्लोकार्थ—यशोदाजी ने दोनों पुत्रों को अपने आसन पर बिठाया और अपनी भुजाओं से आलिङ्गन किया, महाभाग्यवती यशोदाजी ने भी इतने दिनों के विरह ताप को, दर्शन आदि से विप्रयोग का जो ताप था, उसको नेत्र से आँसू बहाते हुए बाहर निकाल दिया ॥३६॥

सुबोधिनी—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति न्यायेन यशोदानन्दौ बालभावेनैव भगवद्भावनां कुरुत इति तयोर्बालत्वेनैवोपस्थितौ अतः सूक्ष्मत्वात्स्वक्रोडे उपवेश्य **आत्मैवासनमिति** । ततो **बाहुभ्यां परिरभ्य** चकारादाघ्राणादिकमपि कृत्वा **शुचः** शोकाश्रूणि **विजहतुः** शोकं वा त्यक्तवन्तौ ॥३६॥

व्याख्यार्थ—ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार यशोदा और नन्द ने बाल भाव से ही भगवान् की भावना की, जिससे वे इनके सामने बालक रूप से ही खड़े हुए, अतः बालक हो जाने से अपनी गोद में बिठाया, जिससे आप ही आसन हुए, पश्चात् दोनों भुजा से आलिङ्गन किया । 'च' शब्द से यह भाव बताया है कि मस्तक आदि भी सूँघे, यों करने से उन्होंने अपने शोक को आँसुओं के साथ बाहर निकाल दिया ॥३६॥

आभास—एवं पुरुषाणामन्योन्यसंबन्धमुक्त्वा स्त्रीणामाह **रोहिणीति** ।

आभासार्थ—इसी तरह पुरुषों का परस्पर सम्बन्ध कहकर, अब 'रोहिणी' श्लोक से स्त्रियों का सम्बन्ध बताते हैं ।

श्लोक—**रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।**
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥३७॥

श्लोकार्थ—यशोदा की की हुई मैत्री को स्मरण करती हुई रोहिणी और देवकी कण्ठ में अश्रु भर आलिङ्गन कर उससे कहने लगी ॥३७॥

सुबोधिनी—**अथ** पूर्वाभ्यो भिन्नप्रक्रमेण । **च**कारात्तत्संबन्धिन्योपि । नन्वसमा कथं परिष्वक्तेत्याशङ्क्याह **व्रजेश्वरीमिति** । व्रजस्य सर्वगोधनस्य प्रभ्वीम् । अतो देवतारूपत्वात् असमेत्यर्थः । ततस्तत्कृतां **मैत्रीं स्मरन्त्यौ बाष्पकण्ठ्यौ** भूत्वा **समूचतुः** । अनयोः कायिकादित्रयव्यापार उक्तः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—यह प्रक्रम पहले जो कहा जा चुका है उनसे पृथक् है । 'च' उनकी सम्बन्धिनियाँ भी समझनी, जो असमान हैं, उनका आलिङ्गन कैसे किया ? जिसके उत्तर में कहा है कि ये (यशोदा) व्रजेश्वरी हैं अर्थात् सब गोधन की स्वामिनी हैं, अतः देवता रूप होने से ही असमान हैं, अन्यथा नहीं है । बाद में उसको की हुई मैत्री का स्मरण होते ही कण्ठ आँसुओं से भर गया अर्थात् गद्गद कण्ठ वाली हो कहने लगी, इससे दोनों का कायिक आदि तीनों व्यापार कहे हैं ॥३७॥

आभास—तयोर्वाक्यं श्लोकद्वयेनाह **को विस्मरेतेति** ।

आभासार्थ—इन दोनों के वाक्य 'को विस्मरेत' तथा 'एतावदृष्ट' श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—को विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि ।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे व्रजेश्वरी ! सदा समान वर्तमान आपकी मैत्री ऐसी है, जिसका बदला इन्द्र का ऐश्वर्य देने पर भी नहीं चुकाया जा सकता है, उसे कौन भूल सकता है ? ॥३८॥

सुबोधिनी—वां युवयोर्नन्दयशोदयोः । **अनिवृत्तां** निवृत्तिरहितां प्रत्युपकाररहितामिति यावत् । **व्रजेश्वरीति** माहात्म्यार्थं संबोधनम् । नन्दोऽपि निकट एव तिष्ठति । क्षत्रियाणामेव दूरे व्यवहारः । कदाचित्प्रत्युपकारसमर्था अपि यादवाः प्रत्युपकारं न कृतवन्त इति यशोदाया हृदये कृतघ्नता भासेत तन्निवृत्त्यर्थमूचतुः **अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यमिति** । ऐन्द्रमप्यैश्वर्यं प्राप्य **को वा विस्मरेतेति** । यशोदानन्दाभ्यां यावानर्थो दत्तः सः स्वर्गादौ नास्त्येव । स एव विस्मारको भवेत् यो महान् भवेत् । अथ प्रत्युपकारः कर्तव्य इति तस्मिन्नपि पक्षे ऐन्द्रेऽपि पदे दत्ते न प्रत्युपकार इति इन्द्रपदकीर्तनम् । **यस्याः** मैत्र्याः **इह** जगति **प्रतिक्रियैव** नास्ति । अनेन सर्वयादवाः भगवद्भ्यां मैत्र्या क्रीता इति निरुक्तं भवति ॥३८॥

व्याख्यार्थ—आप दोनों (नन्द और यशोदा) की मैत्री जिसका प्रत्युपकार (बदला) हो नहीं सकता है, उसे कौन भूल सकता है ? व्रजेश्वरी ! यह सम्बोधन माहात्म्य प्रगट करने के लिए दिया है । नन्दजी भी निकट ही रहते हैं क्षत्रियों का ही व्यवहार दूर में होता है, कदाचित् (शायद) कभी बदला देने में समर्थ होते हुए भी यादव बदला न चुकावें, इस प्रकार की शङ्का (कृतघ्नता का भाव) यशोदाजी के मन में उत्पन्न हो तो उसकी निवृत्ति के लिए कहते हैं कि इन्द्र के समान ऐश्वर्य प्राप्तकर कौन भूल सकता है ? यशोदा और नन्द ने जितना ऐश्वर्य दिया है, उतना स्वर्ग में भी नहीं है, वह ही विस्मारक होता है । जो महान् हो, फिर प्रत्युपकार तो करना चाहिए । इस पक्ष में भी कहते हैं

कि 'ऐन्द्र' पद देने पर भी प्रत्युपकार नहीं हो सकता है, यों 'इन्द्र' पद की बड़ाई कही है, जिस मैत्री की इस जगत् में प्रतिक्रिया ही नहीं है, ऐसी आपकी मैत्री है । आप दोनों ने इस मैत्री से यादवों को क्रय (खरीद, कर लिया है, यों कहा जा सकता है ॥३८॥

आभास—तां मैत्रीं स्मारयति **एतावदृष्टपितराविति** ।

आभासार्थ—'एतावदृष्टपितरौ' श्लोक से उस मैत्री का स्मरण करवाती हैं।

श्लोक—एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः
संप्रीणनाभ्युदयपोषणलालनानि ।
प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णो-
र्न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परस्वः ॥३९॥

श्लोकार्थ—जिन्होंने माता-पिता को देखा ही नहीं, ऐसे ये हमारे पुत्र जिस तरह पलक से नेत्र रक्षा पाते हैं, वैसे आपसे ही इन्होंने रक्षा पाई है । माता-पिता रूप आपने ही इनका लालन-पालन, अभ्युदय व पोषण किया है, जिससे ये सब तरह से आपके यहाँ निर्भय रहे । यह कहावत सत्य है कि सत्पुरुष मेरः और पराया ऐसा भेद जानते ही नहीं हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—बाल्ये दर्शनमदर्शनमित्यदृष्टपितृत्वम् । **युवयोरेव पित्रोः** पितृभ्यां **संप्रीण**नादिकं **प्राप्य युवयोरेवोषतुः** । सम्यक् प्रीणनमलौकिकदानहिताचरणादिभिः । **अभ्युदयः** शान्तिकादिभिः । **पोषणं** नवनीतादिभिः । **लालनं** स्तुतिचुम्बनादिभिः । एतच्चतुष्टयं **प्राप्य** यथा **अक्ष्णोः पक्ष्म** तथात्वमिति । **भवती**ति संबोधनम् । हे **भवति** त्वमनयोरक्ष्णोः पक्ष्मेव रक्षिकेति यशोदाया अधिका स्तुतिः । अत एव युवयोर्न्यस्तावे**तावकुत्रभयौ** । अत एव पूतनादीनां भयं निवृत्तमिति भावः । नन्वेवं रक्षा स्वकीयस्यैव क्रियत इति कृष्णोऽस्माकमेव अस्माभिश्च नेतव्य इति शङ्कायामूचतुः **न सतां परस्व** इति । परस्व इत्यसद्बुद्धिः **सतां** कदापि **न** भवति ॥३९॥

व्याख्यार्थ—बाल्यकाल में ही बालक प्रथम माता पिता को ही देखता है । वह इन दोनों को न हुआ आप ही ने माता पिता होकर सर्व प्रकार अलोकिक रीति से, सब कुछ देकर इनका हितादि किया क्योंकि, आप के वहाँ ही रहे । इनका अभ्युदय (उन्नति) भी शान्तिक (शान्ति करानेवाला) आदि से आपने ही किया । नवनीत (मक्खन) आदि पौष्टिक पदार्थों द्वारा इनका पोषण किया, स्तुति एवं चुम्बन आदि से लाड लडाए, इसी तरह चारों प्रकार से इनको वैसी रक्षा आदि आपने की जैसे पलक सब तरह आँख का पोषण करती है । 'हे भवति' संबोधन से यशोदाजी की नन्द से भी विशेष स्तुति की है । क्योंकि पलक की तरह पुत्र की रक्षा विशेषकर माता ही ध्यानपूर्वक करती है । इस कारण से ही आप के पास रक्षित ये दोनों सर्वथा निर्भय हो रहते थे । यों कहकर बताया कि पूतना आदि का भय भी निवृत्त हो गया, इस प्रकार रक्षा अपनी सन्तान की ही की

जाती है अतः कृष्ण हमारा है, हमही इसको ले जावें, इस शङ्का के उत्तर में कहती हैं, कि अपना और पराया ऐसी असत् बुद्धि सत्पुरुषों को कभी नहीं होती है ॥३६॥

आभास—एवं द्वितीयानामुक्त्वा तृतीयानामाह **गोप्यश्चेति** ।

आभासार्थ—इसी तरह दूसरियों का कह कर अब 'गोप्यश्च' श्लोक से तीसरियों का कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं**
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—बहुत समय से जिस समय श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा थी, गोपियों ने उनको प्राप्त किया, किन्तु नेत्रों में पलक रचने वाले ब्रह्मा (भगवान् के दर्शन करने में) विघ्न रूप हुआ, जिससे उसको गोपियाँ शाप देने लगी और भगवान् को नेत्रों द्वारा हृदय में धारण कर, उनका गाढ(खूब) आलिङ्गन कर, नित्य समाधि द्वारा भगवान् के दर्शन की इच्छा वाले योगियों को भी दुर्लभ, ऐसे दर्शन कर भाव द्वारा उस भाव स्वरूप का आप भी रूप बन गईं ॥४०॥

सुबोधिनी—गोपीनां कृष्ण एव संभाष्यः न तु देवक्याद्याः तादृश्यः **कृष्णमुपलभ्य** सम्यग्दृष्ट्वा दृशि स्थितं भगवन्तं **दृग्भिरेव हृदिकृत्य** अन्तःकरणे समागतमात्मनैव देहादिव्यवधानरहितेनालमत्यर्थं **परिरभ्य सर्वा** एव **तद्भावं** कृष्णभावं प्राप्ताः । अन्तर्गते भगवति आलिङ्गनार्थं प्रवृत्ताः स्वजीवात्मानं तत्र संयोज्य भगवता सह ऐक्यं प्राप्ताः लिङ्गशरीरमपि तिष्ठतीति जीवधर्मापेक्षया भगवद्धर्मा बलिष्ठा इति जीवभावं परित्यज्य भगवद्भावं प्राप्ता इत्यर्थः । **चिरादभीष्टमिति** । सर्वभावेन प्राणानां तत्समीपगमने हेतुरुक्तः । अभीष्टतायाः परमसीमामाह **यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्तीति** । 'जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम्' इति । अक्षिरक्षार्थं पक्ष्मकरणं भगवद्दर्शनदशायामक्ष्युपघातकशङ्काभावात् पक्ष्म व्यर्थं प्रत्युत व्यवधानं करोतीति बाधकमतो ब्रह्मा भगवद्दर्शनयुक्तानां पक्ष्म कुर्वन् दर्शनरसानभिज्ञो जड एवेति वदन्त्यः भगवत्प्रेक्षणे **दृशिषु** यः **पक्ष्मकर्ता** तं **शपन्ति** । एवं दर्शनरसाभिज्ञाः ततो **दृग्भिर्हृदीकृतं** भगवन्तं बहिः शङ्क्या आलिङ्गनबाधाद् अन्तरेव **परिरभ्य** तद्रूपा जाताः । अयं भावस्तासां कामेन जातः तत्राप्यनायासेन । साधनसहस्रस्यापि एतदशक्यमित्याह **नित्ययुजामपि दुरापमिति** । निरन्तरयोगरतानामप्यप्राप्यम् । असूयादिसर्वदोषपरिहारार्थं भगवान् उपायान्तरमलभमानः स्वभावं दत्तवान् । नतु तासां स्वभावे काचित्प्रतीतिरस्ति । अत एव श्रूयते ।

व्याख्यार्थ—गोपियों को कृष्ण से मिलाप, सम्भाषण आदि करना था । देवकी आदि से नहीं, क्योंकि गोपियों के मन में, यह बात अब तक खटक रही थी, कि ये ही व्रज से कृष्ण को

अपने पास ले गई हैं । वैसी गोपियाँ कृष्ण को प्राप्त कर, अच्छी तरह से दर्शन कर, नेत्र में स्थित भगवान् को नेत्रों से ही हृदय में धारण कर, देह आदि रुकावट से रहित, आत्मा से ही अत्यन्तमेव आलिङ्गन कर सर्व गोपियाँ कृष्ण भाव को प्राप्त हो गईं, अर्थात् हृदय में पधारे हुए भगवान् को आलिङ्गन करने के लिए प्रवृत्त गोपियाँ अपने जीवात्मा को उनमें जोड़कर भगवान् के साथ ऐक्य को प्राप्त हुईं । उस समय गोपियों का लिङ्ग शरीर भी विद्यमान था, तो ऐक्य कैसे ? जिस शङ्का का निवारण करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जीव धर्म की अपेक्षा भगवद्धर्म बलिष्ठ है, इसलिए जीव भाव का त्याग कर भगवद्भाव को प्राप्त हुईं । प्राण सर्वभाव से उनके समीप जाने के हेतु था, बहुत समय से प्राप्ति की इच्छा, इच्छा की परम सीमा को कहते हैं कि भगवान् के दर्शन में, रुकावट डालने वाली, जो पलकें थीं. उनको बनाने वाले ब्रह्मा को 'जड़ उदीक्षतांपक्ष्म कृद्दृशाम्' श्लोक में शाप देती हैं, कि ब्रह्मा जड़ अर्थात् मूर्ख है' आँखों की रक्षा के लिए पलकें बनाई, किन्तु भगवद्दर्शन के काल में आँखों की कोई हानि नहीं होती है, अतः पलकें व्यर्थ, बल्कि दर्शन में रुकावट करती हैं इसलिए बाधक हैं; अतः ब्रह्मा ने भगवद्दर्शनाभिलाषियों के नेत्रों में जो पलकें बनाई हैं, इससे जाना जाता है कि ब्रह्मा भगवद्दर्शन से जो रस प्राप्त होता है, उसको नहीं जानता है, अतः मूर्ख ही है यों कहती हुई भगवान् के दर्शन समय, नेत्रों में जो पलकें बनाने वाला है, उसको शाप देती हैं, इस प्रकार दर्शन के रस को जाननेवाली गोपियों ने नेत्रों से भगवान् को हृदय में विराजमान कर लिया । भगवान् यदि बाहर विराजते तो आलिङ्गन में बाधा पड़ेगी, भीतर ही गाढ आलिङ्गन करती हुई तद्रूप बन गईं यह भाव उनके काम से हुआ उसमें भी किसी प्रकार परिश्रम नहीं हुआ हजारों साधनों से यों होना अशक्य है, इसको दृष्टान्त से समझाते हैं कि निरन्तर जो योग में आसक्त हैं उनको भी यह आनन्द प्राप्त नहीं होता है, भगवान् ने असूया (डाह) आदि दोषों के परिहार के लिए दूसरा उपाय न देखकर स्वभाव ही ऐसा दिया, उनके स्वभाव में कोई अन्य प्रतीति नहीं है अतएव सुना जाता है कि—

कारिका—**'गोमति मतिमति किमिदं हरि हरि हरिणा कथं सङ्गः ।**
जातं पीतं वसनं मेचकमङ्गं गतोऽङ्गनाभावम्' इति ॥

कारिकार्थ—हे बुद्धिमती वाणी ! आपने ऐसे से सङ्ग कैसे किया, जिसके वस्त्र पीले और अङ्ग श्याम तथा स्वयं स्त्रीभाव को प्राप्त हो गए हैं ।

सुबोधिनी—अतः पूर्वविस्मरणार्थं भगवानेवं कृतवानिति तृतीयकक्षास्थानामत्युत्कर्ष उक्तः ॥४०॥

व्याख्यार्थ—अतः पूर्व भाव को भूल जाने के लिए भगवान् ने इस प्रकार यह लीला की है-यों तृतीय कक्षा वाले भक्तों का अति उत्कर्ष कहा है ॥४०॥

आभास—ततो भगवान् तद्भावदार्ढ्यार्थं किञ्चिदुपदेष्टुं तत उत्थाय एकान्ते गत्वा यथोचितं कृतवानित्याह **भगवानिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् उनके भाव को दृढ करने के लिए और कुछ उपदेश देने के

लिए वहाँ से उठकर एकान्त में जाकर जो उचित कर्तव्य करना था, वह करने लगे यह 'भगवान्' श्लोक से वर्णन करते हैं।

श्लोक—**भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसंगताः।**
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥४१॥

श्लोकार्थ—भगवान् वैसी गोपियों से एकान्त में मिले उनके भाव के अनुसार आलिङ्गन कर, उनसे कुशल पूछ अनन्तर हँस कर, यों कहने लगे ॥४१॥

सुबोधिनी—स्वयमेवान्तर्वर्तत इति यदेव करिष्यति तदेव ता अङ्गीकरिष्यन्तीति **विविक्ते** एकान्ते **उपसंगताः** समीपमागताः गोपीः बहिः स्वयमेवाऽश्लिष्य बहिर्धर्मानपि स्वकीयांस्तासु बहिः स्थापयित्वा पश्चादनामयं **पृष्ट्वा** स्ववचनं स्मृत्वा **प्रहसन्निदं** वक्ष्यमाणमब्रवीत्। ४१॥

व्याख्यार्थ—स्वयं भगवान् भीतर बिराज रहे हैं इसलिए जो कुछ आप करेंगे, उसको वे स्वीकार करेंगी, अतः एकान्त में गोपियाँ भगवान् के समीप आईं, बाहर स्वयं ही आलिङ्गन कर अपने बाहर के धर्मों को भी उन में बाहर स्थापन किया, बाद में कुशल पूछ अपने वचन याद कर हँसते हुए निम्न वचन कहने लगे ॥४१॥

आभास—स्वलीलां तासु स्थापयन्निवाह **अपि स्मरतेति।**

आभासार्थ—उनमें मानों अपनी लीलाओं को स्थापित करते हुए कहने लगे।

श्लोक—**अपि स्मरत नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया।**
गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥४२॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा—हे सखियों! हम अपने बन्धुओं के कार्य करने की इच्छा से गए थे, किन्तु वहाँ शत्रुओं के पक्ष का नाश करने में लग गए, जिससे वहाँ बहुत दिन तक रुक गए। गोकुल में रहते हुए तुमने हमको कभी याद भी किया? ॥४२॥

सुबोधिनी—हे **सख्यः**। **अपी**ति संभावनायाम्। **नो**ऽस्मान् किं **स्मरत**। अस्मरणं तु भवतीनामेव दोष इति परिहासोक्तिः। स्वस्यापराधं परिहरति **स्वानामर्थचिकीर्षया गतानि**ति। किं कर्तव्यार्थं गतं मथुरायां तत्र बन्धूनां हितकरणार्थं प्रवृत्तौ भूयान् कालो जातः। तेनैवागमनं चित्तं तु भवतीष्वेवेत्यर्थः। चिरकालावस्थितौ हेतुमाह **शत्रुपक्षक्षेपणचेतस** इति। शत्रूणां पक्षाः सर्व एव नाशनीया इति। अन्यथा समूला न नश्यन्तीति। स्त्रीभिः सह परिहासभाषया एतद्भगवतोक्तम् ॥४२॥

व्याख्यार्थ—हे सखियों! 'अपि' शब्द यहां सम्भावना अर्थ में दिया है। क्या हमको याद

करती हो? यदि नहीं करती हो तो आपका ही दोष है, यों कहना परिहासार्थ है, भगवान् अपने अपराध को मिटाते हैं, मैं तो सम्बन्धियों की कार्य पूर्ति के लिये मथुरा गया, वहाँ उनके हित कार्य करने की प्रवृत्ति में लग जाने से बहुत समय लग गया इस कारण से नहीं आ सका। चित्त तो तुम लोगों में लगा हुआ था, बहुत समय क्यों लगा? जिसका कारण बताते हैं कि वहाँ शत्रु पक्ष को किसी भी तरह नाश करने में लग गया था, यदि साधारणतया कार्य करेंगे तो शत्रु समूल नष्ट न होंगे अतः विशेष समय रह कर उनको सर्व प्रकार समूल ही नाश करना था स्त्रियों से यों परिहास की भाषा में भगवान् ने कहा ॥४२॥

आभास—यस्तु मर्मानभिज्ञः स एतदङ्गीकरोति। न त्वभिज्ञ इति। अभिज्ञा गोपिकाभगवान् वञ्चयतीति भगवति अवध्यानबुद्धयो भवन्ति, अतस्तद्दोषपरिहारार्थं भगवानाह **अप्यवध्यायथेति।**

आभासार्थ—जो मर्म को नहीं समझ सकता है, वह इसको अङ्गीकार करेगा न कि समझने वाला। गोपियाँ तो अभिज्ञ (समझदार) हैं, अतः समझती हैं कि भगवान् हमको यों कह कर ठगते हैं, इसलिए भगवान् में उनकी विरुद्ध ध्यान वाली बुद्धि हो गई, अतः उनके इस दोष को मिटाने के लिए भगवान् 'अप्यवध्यायथ' श्लोक में गोपियों को उपदेश देते हैं अर्थात् समझाते हैं—

श्लोक—**अप्यवध्यायथास्मान्स्विदकृतज्ञा विशङ्कया।**
नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ॥४३॥

श्लोकार्थ—हम आपको भूल गए हैं, ऐसी शङ्का मन में कर हम पर विरूद्ध विचार से दोषारोपण नहीं करना, कारण कि मिलना एवं पृथक् होना तो मनुष्य के हाथ में नहीं, किन्तु भगवान् के हाथ में है। वे जब मनुष्य को पृथक् करना चाहते हैं, तब पृथक्पन प्राप्त होता है और जब मिलाना चाहते हैं, तब मिलाप होता है, इसलिए आप इस बात को समझलो कि सबके लिए यह नियम है ॥४३॥

सुबोधिनी—ध्यै चिन्तायामित्यस्य अवोपसर्गसहितस्य लोटि तादेशरहितस्य मध्यमपुरुषवचन **अवध्यायथे**ति। अवध्यानं विरुद्धध्यानम्। **अपी**ति संभावनायाम्। **अस्मान्** बलभद्रोद्धवादिसाहित्येनावध्यानप्राप्तिं सूचयति **अपि स्वि**दिति। **अकृतज्ञा** एते इति या विशिष्टशङ्का विरुद्धशङ्का वा स्वाधीनत्वे दोषोऽयं भवेत्। पराधीनं त्वेतदित्याह **नूनं भूतानि भगवानि**ति। **युनक्ति** कदाचित् **वियुनक्ति** वियोजयति च ॥४३॥

व्याख्यार्थ—'अप्यवध्याय' यह पद ध्यै' चिन्तायाम् धातु से अव उपसर्ग के साथ लोट् लकार का मध्यम पुरुष है, यहाँ 'त' का आदेश नहीं हुआ हैं 'अवध्यानं' का अर्थ विरुद्धध्यान अर्थात् विरुद्ध शंका वा विचार 'अपि' पद यहाँ सम्भावना अर्थ में दिया है' 'अस्मान्' पद से सूचित किया है कि बलभद्र और उद्धवआदि सबके साथ हम पर यह दोषारोपण नहीं करना, कि ये कृतघ्न हैं, क्योंकि यह सम्भावना तब बन सकती है, जबकि जीव स्वतन्त्र हो, अपनी इच्छा से सब कुछ कर

सकता हो, यह तो पराधीन है, क्योंकि भूत मात्र को भगवान् ही अपनी इच्छा से मिलाता है वा पृथक् कर देता है इसलिए हम आपको छोड़ कर मथुरा गए ऐसी शङ्का कभी नहीं करनी ।।४३।।

आभास—यस्मिन् पक्षे भगवति जारबुद्धिः तदैवं वचनं प्राणिन एव जारा भवन्तीति कथं कालेन संयोगवियोगौ क्रियेते इति चेत् तत्राह **वायुर्यथा घनानीकमिति ।**

आभासार्थ—जिस पक्ष में भगवान् में जार बुद्धि है, तब ऐसे वचन, कि प्राणी ही जार हैं यों कैसे मिलाप और वियोग होता है ? इसका उत्तर 'वायुर्यथा' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—**वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च ।**
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ।।४४।।

श्लोकार्थ—जैसे पवन मेघ, तृण, रुई और रज को मिलाकर अलग (जुदा) कर देता है, वैसे ही काल-भगवान्-भी भूतों को मिलाता है एवं अलग करता है ।।४४।।

सुबोधिनी—**यथा वायुः** मेघसमूहं वियोजयति योजयति च । यथा **तृण**समूहं वात्यारूपः । **तूलं** च कार्पासपिण्डं, **रजो** भूरेणुः, तृणादीनि राजससात्त्विकतामसानि निर्गुणा मेघाः, चतुर्विधा अपि वायुना स्वेच्छया नीयन्ते स्थाप्यन्ते वा । **तथा भूतानि** चतुर्विधान्यपि भूतानि । **भूतकृत्** कालः । योजयति वियोजयति च । अतः कालाधीनत्वात् योगवियोगार्थं कोपि नोपालभ्यः ।।४४।।

व्याख्यार्थ—जिस तरह वायु मेघ के समुह को अलग करता है और फिर मिला भी देता है, तिनकों को, कपास के पिण्ड को और पृथ्वी की रज को भी मिलाता और पृथक् कर देता है, ये चारों पदार्थ वायु द्वारा मिलते भी हैं, अलग भी होते हैं, इनमें से तीन तिनके, कपास और रज राजस, सात्विक और तामस है शेष मेघ निर्गुण है, इसी प्रकार चार भूत भी काल द्वारा मिलते और अलग होते हैं इस कारण काल के आधिन होने से मिलने और बिगड़ने का किसी को उपालम्भ (उल्हाना) नहीं देना चाहिए ।।४४।।

आभास—परमार्थबुद्धियुक्ताश्चेत्तत्राह **मयि भक्तिर्हि भूतानामिति ।**

आभासार्थ—यदि परमार्थ बुद्धि युक्त हैं तो इस पर 'मयि भक्ति' श्लोक कहते हैं

श्लोक—**मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।**
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ।।४५।।

श्लोकार्थ—प्राणी मात्र को मुझ में की हुई भक्ति मोक्ष देने में समर्थ है, अतः बधाई है, जो मेरी प्राप्ति करने वाला मेरा स्नेह आप लोगों को प्राप्त हुआ है ।।४५।।

सुबोधिनी—**भक्तिः** शास्त्रीया आन्तरप्रेमसहिता सेवादिः. इन्द्रियाणामहमहमिकया स्वाभाविकी वृत्तिर्वा । **अमृतत्वाय** मोक्षाय । **भूतानामिति** नात्रावान्तराधिकारभेदो वक्तव्यः यथा मर्यादायां ब्राह्मण एव मुच्यत इति न तथा भक्तिमार्गे । **कल्पत** इति असहायैव भक्तिर्मोक्षं दातुं समर्था न तु ज्ञानमिव कर्मापेक्षते अन्तःकरणशुद्धिं वा । अतो भक्तानां मोक्षः नात्यन्तं दुष्प्राप्यः । भवतीनां तु ततोपि विशेष इत्याह **दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेह** इति । स्नेहो लौकिकः स तु कामकृतो भवति 'काममयः पुरुषः' इति सहजोऽपि कृत्रिमो । वैधः सहजो भगवद्विषयको न भवतीति असंव्यवहार्यत्वाद्भगवतः । प्रकृते तु दैवगत्या मद्विषयो जातः तस्य च फलं **मदापन** इति मामेवापयति प्रापयतीति मद्भावं मत्सायुज्यं वा करोतीत्यर्थः । अमृतत्वं ब्रह्मभावः, पुरुषोत्तमभावो मद्भावः । तद्वैलक्षण्यं पूर्वमेवावोचाम ।।४५।।

व्याख्यार्थ—हार्दिक प्रेम युक्त शास्त्र में कही हुई सेवादि को भक्ति कहा जाता है, अथवा प्रत्येक इन्द्रियों की भगवान् में ऐसी सहज वृत्ति हो, कि भगवान् से हम पहले मिलें, वह भक्ति है, ऐसी भक्ति मोक्ष कराने वाली है अर्थात् ऐसी भक्ति-से मोक्ष प्राप्त होता है, भक्ति से मोक्ष, भूत मात्र को मिलता है, इससे किसी प्रकार का दूसरा कोई भेद नहीं है । जैसे मर्यादा मार्ग में ब्राह्मण की मुक्ति हो सकती है, भक्ति मार्ग में यों नहीं है 'भक्ति' सर्व प्राणी मात्र को मोक्ष देने में समर्थ है । उसको ज्ञान की तरह न, कर्म की अपेक्षा है और न अन्तःकरण की शुद्धि की आवश्यकता हैं, इसलिए भक्तों को मोक्ष अत्यन्त कठिनता से प्राप्त नहीं होता है, बल्कि सरलता से मिल जाता है, तुम को तो उनसे भी विशेष सरलता से, अतः बधाई है, कारण कि, आपका मेरे में सहज स्नेह है, लौकिक स्नेह जो है वह तो काम कृत होता है 'काम मय पुरुष' इस वाक्यानुसार सहज ही कृत्रिम हो जाता है । जो स्नेह वैध अर्थात् विधि अनुसार है,वह सहज मेरे सम्बन्ध वाला नहीं होता है, कारण कि भगवान् से व्यवहार्य नहीं हो सकता है । प्रकृत में तो देव गति से आपका स्नेह मत्सम्बन्धी[1] हो गया है जिसका फल मेरी प्राप्ति है अर्थात् मुझ में 'सायुज्यमुक्ति' प्राप्ति होती है, अमृतत्व का तात्पर्य है ब्रह्मभाव, पुरुषोतमभाव वा मद्भाव उसकी विलक्षणता पूर्व ही कही है ।।४५।।

आभास—कीदृशो भगवान् यादृशं स्नेहः प्रापयतीत्याकाङ्क्षायामाह **अहं हीति ।**

आभासार्थ—वे भगवान् कैसे हैं ? जिनको स्नेह ही प्राप्त करा सकता है, कर्म ज्ञानादि कोई साधन उनकी प्राप्ति नहीं करा सकता है जो 'अहं' श्लोक से बताते हैं

श्लोक—**अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः ।**
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ।।४६।।

श्लोकार्थ—हे अङ्गनाओं ! जिस तरह भौतिक पदार्थों की आदि-अन्त, बाहर-भीतर सब पाँच भूत[2] हैं, वैसे मैं ही सर्वभूतों की आदि-अन्त, बाहर और भीतर में व्याप्त हूँ ।।४६।।

१- मुझ से सम्बन्धवाला

२- आकाश, जल, पृथ्वी, वायु और तेज

सुबोधिनी—स्नेहस्य मत्प्रापणे आवरण-निराकरणमेव साध्यम्। न तु प्रयासान्तरमस्तीति वक्तुं भूतानां पूर्वापरबाह्याभ्यन्तरभेदेन प्रदेशचतुष्टये स्वस्यावस्थानं निरूप्यते। युक्तश्चायमर्थः। व्यापको हि परिच्छिन्नस्य एवमेव भवति। **आदिरन्त** इति उत्पत्तेः पूर्वं नाशानन्तर च **अहमेवेति** कालपरिच्छेदे। उभयतः स्थितिमाह **अन्तरं बहिरिति**। देशपरिच्छेदे। सङ्घाताभिप्रायमेतदणुजीवाभिप्रायेऽपि। तत्र पञ्चमहाभूतानि दृष्टान्तीकरोति **भौतिकानामिति**। खमाकाश **वार्जलं** तामसराजसभावनिरूपणार्थं आकाशजलयोः क्रमो निरूपितः। तथैव भूवाय्वोः सृष्टिप्रलयभेदेन क्रमद्वयं निरूपितं भवति। मध्ये सात्त्विकं तेजः आद्यन्तयोस्तामसौ तत्संलग्नौ राजसौ मध्ये सात्त्विकमिति यथा सर्वतो व्याप्तं शरीरं तत्संलग्ना इन्द्रियप्राणाः मध्ये चैतन्यमिति ज्ञापनार्थम्। **अङ्गना** इति संबोधनं उत्तमाङ्गत्वेन विश्वासार्थम् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—मेरी प्राप्ति के लिए स्नेह का केवल आवरण दूर करने के सिवाय अन्य किसी प्रकार का प्रयास नहीं है। यों सिद्ध करने के लिए भूतों के चारों तरफ अर्थात् आदि में अन्त में, बाहर और भीतर मैं ही, स्थित हूँ यों कहना उचित ही है। जो वस्तु व्यापक है वह परिच्छिन्न पदार्थ में इसी तरह ही रहती है, उत्पत्ति से पहले और नाश के बाद भी मैं ही हूँ यों कहकर काल के परिच्छेद में भी अपना अस्तित्व सिद्ध किया है तथा देश परिच्छेद में भी बाहर और भीतर कह कर अपना अस्तित्व कहा है, अर्थात् आप सब में सदैव स्थित है जिससे कोई भी पदार्थ जीव आदि आपसे कभी पृथक् नहीं है संघाताभिप्राय यह अणु जीव के अभिप्राय से भी कहा है इस विषय में पांच महा भूतों का दृष्टान्त देते हैं– आकाश और जल ये दो साथ में क्रम से तामस और राजस भाव बताने के लिए कहा है, वैसे ही पृथ्वी और वायु का सृष्टि और प्रलय भेद से क्रम पूर्वक दो कहे हैं मध्य में सात्विक तेज कहा है, इस प्रकार क्रम कहने का आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि जैसे शरीर सर्वतो व्याप्त है उसमें इन्द्रिय और प्राण लगे हुए हैं और मध्य में चैतन्य रहता है यह जताने के लिए ही आदि तथा अन्त में तामस उससे ही मिले हुए राजस और मध्य में सात्विक तेज कहा है अङ्गना यह सम्बोधन, उत्तमाङ्गत्व के कारण विश्वास के लिए कहा है ॥४६॥

आभास – एवं परितो वेष्टनमात्रतया स्वस्य जीवानां जगतो वा भेदो निरूपितः तन्निराकुर्वन् केवलात्मप्रतिपत्तिमाह **एवमिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार चारों तरफ केवल वेष्ठित होने से अपना जीवों का अथवा जगत् का भेद कहा उसका 'एवं' श्लोक में निराकरण हुए केवल आत्मप्रतिपति (बुद्धि) है यह सिद्ध करते हैं—

श्लोक— **एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मतया ततः।**
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥४७॥

श्लोकार्थ—जैसे भौतिक घट-पट आदि पदार्थों की आत्मा(शरीर) भूतों से उत्पन्न

१– आकाश, जल, पृथ्वी, वायु और तेज

होती है, फिर भूतों में ही लीन हो जाती है, वैसे ही कार्य कारणात्मक जगत् अन्त में मुझमें ही लीन हो जाता है। यह सर्व अक्षर में लीन होते हैं। यह आप देखो, यों कहकर गोपियों को सर्व वस्तु की ब्रह्मरूपता बताई। इसी तरह बताकर गोपियों को सर्व वस्तु की भगवद्रूपता कही है और यों सिद्धकर स्नेह को ही अधिकार रूप कहा है ॥४७॥

सुबोधिनी–अनेन प्रमेयं भगवानिति समर्थितं भविष्यति। पूर्वश्लोके भूतानि परितो निरूपितानि। भौतिकानां कालपरिच्छेदे देशपरिच्छेदे च मध्यभावस्तु न निरूपितः। मध्यभावस्तु किमात्मक इत्याकाङ्क्षायामाह मध्येऽपि **भूतान्येव** भौतिकेषु वर्तन्ते। नदीनिमग्नघट इव स्थिता भविष्यन्तीति पिण्डकारणत्वेन च स्थिता भविष्यन्तीति न जलात्मता घटस्य भविष्यतीति विशेषमाह **आत्मात्मतयेति**। आत्मनां भूतशब्दवाच्यानां घटपटादीनामात्मतया स्वरूपत्वेन महाभूतानि भौतिकेषु भवन्तीत्यर्थः। अनेन पञ्चमहाभूतात्मकत्वं जगतो निरूपितम्। ततः परमुभयविधस्य कार्यकारणभावापन्नस्य भूतजातस्य भगवानाद्यन्तयोरन्तर्बहिः तद्रूपश्चेति निरूपयति **तत उभयं मयीति** बोधनार्थम्। तत इति क्रमः आनन्तर्यार्थो निरूपितः। एतन्मयीति वचनं ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिभूतभौतिकपक्षे पुरुषपरं ब्रह्माण्डपक्षे तु कालपरम्। **अथ** तदनन्तरम्। कालसहितस्य सर्वस्यापि कार्यजातस्य पूर्ववन्मयि परे अहं तेषामाद्यन्तान्तरवर्तीत्यादि। एतावद्दूरे स्वरूपं निरूप्य तस्यानुभवं कारयति **पश्यतेति**। किं द्रष्टव्यमित्याकाङ्क्षायां क्रमनिरूपणं परित्यज्य फलमाह **अक्षरे आभातमिति**। अनेन ब्रह्मात्मभावोपि निरूपितो भवति। जीवानामप्यतिरिक्तभावस्य निराकृतत्वात्स्नेहस्य मदापनजनने अधिकार इव निरूपितः ॥४७॥

व्याख्यार्थ इससे यह समर्थित होगा कि प्रमेय भगवान् हैं पूर्व लोक में चारों तरफ भूत कहे हैं भौतिक पदार्थ के काल परिच्छेद और देश परिच्छेद में मध्यभाव का निरूपण नहीं किया, मध्यभाव का क्या रूप है? इस आकांक्षा में कहते हैं कि भौतिक पदार्थों के मध्य में भी भूत ही है। नदी में डूबे हुए घड़े की भाँति स्थित होंगे यों पिण्डकारणपन से स्थित रहेंगे इसलिए घट को जलात्मता नहीं होगी, जिसके कहने का भावार्थ यह है, कि घट पट आदि पदार्थ जो भूत नाम से कहे जाते हैं वे स्वरूपपन से जो महाभूत आकाशादि हैं वे ही भौतिक पदार्थों में हैं अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतः जगत् को पञ्चमहाभूतों का ही रूप कहा है। यों समझाकर बाद में कहते हैं कि यह जो 'कार्य' और 'कारण' भाव को प्राप्त भूत मात्र है, उसके 'आदि' 'अन्त' में 'भीतर' और 'बाहर' तथा उस का रूप भगवान् ही है यह निरूपण करते हुए कहते हैं, कि 'तत उभयमयि' 'तत' पद से अनन्तर अर्थ वाला क्रम निरूपण किया है 'एतत् मयि' इस पद से यह समझाया है कि ब्रह्माण्ड के भीतर जो भूत और भौतिक है वह पुरुष 'पर' है और ब्रह्माण्ड पक्ष में 'काल' 'पर' है. अथ उसके बाद काल सहित जो कुछ भी कार्य रूप है, वह पूर्व की तरह 'पर' जो मैं हूँ उसमें है। मैं ही उनके आदि, मध्य और अन्त में रहता हूँ। इतने तक दूर भी मेरा स्वरूप है यों कहकर उसका अनुभव कराते हैं 'पश्यत' दर्शन करिए, क्या देखें? इस आकांक्षा में क्रम के निरूपण का त्याग कर फल बताते हैं, यह सर्व अक्षर रूप में प्रकाशित हो रहा है, इससे जगत् ब्रह्मभाव भी निरूपण किया। जीव के भी पृथकभाव का निराकरण करने से अपने में प्राप्ति का मानों अधिकार निरूपण कर दिया है ॥४७॥

आभास—तेन को वाधिकारः संपन्न इत्याकाङ्क्षायामाह **अध्यात्मशिक्षयेति** ।

आभासार्थ उससे कौनसा अधिकार प्राप्त हुआ इस आकांक्षा का 'अध्यात्म शिक्षया' श्लोक में श्री शुकदेवजी उत्तर देते हैं--

श्लोक— श्रीशुक उवाच—**अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ।**
तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन् ॥४८॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने गोपियों को अध्यात्म शिक्षा दी, जिसको स्मरण करती हुई गोपियों ने अन्नमयादि कोशों को त्याग कर भगवान् को पाया, जब कोशाध्यास नष्ट हुआ, तब सर्वात्मभाव से भगवान् के दर्शन करने लगीं ॥४८॥

सुबोधिनी--**अध्यात्मशिक्षा** आत्मनो ब्रह्मत्वज्ञानबोधाय युक्तिपूर्वकनिरूपणं तेन **गोप्य एवं** भगवता **शिक्षिताः** ब्रह्मभावापन्ना अपि बोधकस्य भगवतः **अनुस्मरणेन** बोधितार्थानुस्मरणेन वा **ध्वस्तजीवकोशाः** सत्यः व्यवधायकं स्वकीयमुपाधिरूपं लिङ्गशरीरं परित्यज्य **तमेवाध्यगन्** भगवद्रूपा एव जाताः यथा भगवान् । तेनान्तःपूर्णो भगवानेव जातः । कोशस्थानीयो भगवानाधिदैविकः । सहजसर्वशक्तिर्वा देहस्त्वत्रशिष्यते व्याप्तभगवदंशः ॥४८॥

व्याख्यार्थ—अध्यात्म शिक्षा 'आत्मा' ब्रह्म है, युक्ति पूर्वक ऐसी शिक्षा को अध्यात्मा शिक्षा कहा जाता है । भगवान् की दी हुई इस प्रकार को शिक्षा से गोपियाँ ब्रह्म भाव को प्राप्त होने पर भी, शिक्षा देने वाले भगवान् को स्मरण से अथवा जो ज्ञान की शिक्षा मिली उसको बार बार स्मरण करने से, जीवकोशों को नष्ट कर, भगवद्दर्शन एवं मिलन में रुकावट करने वाले अपने उपाधिरूप लिङ्ग शरीर का त्याग कर भगवद्रूप हो गईं । जैसा भगवान् का आनन्दमय रूप है वैसी ही यह भी हो गईं । उससे अन्तःपूर्ण भगवान् ही हो गईं । कोश स्थानीय भगवान् आधिदैविक हैं अथवा सहज सर्व शक्ति हो गईं । देह में तो भगवदंश व्याप्त हो गया इसलिए नष्ट न हुई ॥४८॥

आभास— तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावाय भगवन्तं विज्ञापयामासुः **आहुश्चेति** ।

आभासार्थ—प्रतिबन्धकपन के अभावार्थ भगवान् को प्रार्थना करती हैं ।

श्लोक— **आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं**
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहंजुषामपि मनस्युदियात्सदा नः ॥४९॥

श्लोकार्थ - हे कमलनाभ ! अगाध बोध वाले योगेश्वर, जिस चरण कमल को हृदय में धारण कर चिन्तन करते हैं और जो चरण कमल संसार रूप कूप (कुए) में

पड़े हुए पुरुषों का आश्रय है, वह चरण कमल घर का सेवन करने वाली हम हैं, तो भी सदैव हमारे मन में प्रगट होकर विराजे ॥४९॥

सुबोधिनी--भक्तानामेवं स्थितिः उत्तमा एवंभावश्च, ब्रह्मात्मभावोऽस्माकं जात एव । इन्द्रियवर्गश्चातीतः । अतः आधिदैविके मनसि तवावतीर्णस्य पुरुषोत्तमस्य पादयुगलं मनसि सर्वदा स्फुरतु । तावता इयमवस्था स्थिरा भविष्यति । एतदभावे ब्रह्मभावापन्नस्यापि सर्वे दोषाः संभविष्यन्तीत्याशयेनाहुः **हे नलिननाभेति** । पद्मनाभत्वादयं ब्रह्मादीनामुत्पादकः तदनुवृत्त्यैव जीवानां स्थितिर्वा ब्रह्मभावेन स्तब्धतायां कृतघ्नता भवतीति तदभावार्थं प्रार्थित इत्यर्थः । उपायेनाविर्भावं संपादयन्त्विति चेत् तत्राहुः **योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमिति** । **अगाधबोधैर्ज्ञानपूर्णैर्बहिर्योगरूपसाधनयुक्तैरपि हृदि विचिन्त्यमेव** । नन्वेतादृस्याविर्भावे किं प्रयोजनमिति चेत् तत्राह **संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बमिति** । **संसारकूपे** निर्गमोपायरहिते यः पतति दूरादुच्चैः स्थितः पातककर्मणा नीचत्वं प्राप्नोति तस्य वैकुण्ठपदारोहणे **अवलम्बनं** भवति । कर्म ज्ञानादिकं ऊर्ध्वगमनं तन्निरालम्बने न साधकमिति सर्वथालम्बनं मृग्यते । स्वस्य बाधान्तरसंभावनामाहुः **गेहंजुषामपीति** । देहो वर्तत इति देहभागिनः गृहे योजयिष्यन्ति । ततो गृहासक्त्या पूर्ववदेव प्राकृतत्व भविष्यति । ततो गृहासक्त्या पूर्ववदेव प्राकृतत्वं भविष्यति । अयमेव च कूपे पातः । अपीति कदाचित्त्वत्कृपया देहसंबन्धो न भवेत् तदा न काचिच्चिन्ता इत्यपि सूचितम् । **मनसि** स्वयमेवोदियात् । **नोऽस्माकं** सर्वासाम् । एवं निष्कामतया गोप्यो मुख्या भक्ता जाताः । कामनिवारणार्थं च ज्ञानोपदेश इति निरूपितम् ॥४९॥

व्याख्यार्थ—भक्तों की इस प्रकार की स्थिति तथा ऐसा भाव उत्तम है । हम ब्रह्म भाव को प्राप्त हो गई हैं, इन्द्रिय वर्ग से भी अतीत हो गई हैं, अतः अवतारी आप पुरुषोत्तम का चरण युगल सर्वदा इस आधिदैविक मन में स्फुरित होता रहे । तावता (तब तक) यह अवस्था स्थिर रहेगी, इसके अभाव होने पर, ब्रह्म भाव का प्राप्त होने वाले को भी सर्व दोष घेर लेते हैं, इस आशय से कहती हैं कि हे पद्मनाभ ! आप पद्मनाभ होने से ब्रह्मादि के उत्पन्न कर्ता हैं उसकी अनुवृति से ही जीवों की स्थिति है अथवा ब्रह्मभाव स्तब्धता आ जाने पर कृतघ्नता होती है । वह न होवे, इसके लिए प्रार्थना की है, प्रार्थना क्यों ? उपाय द्वारा आविर्भाव कराओ यदि यों कहो तो हमारा उत्तर यह है, कि आपका चरण कमल ही संसार कूप (कुए) में पड़े हुए जनों का वहाँ से निकालने का आश्रय है, अर्थात् वे ही निकाल सकते हैं दूसरा कोई उपाय नहीं है क्योंकि अगाध बोध वाले योगेश्वर भी इनका हृदय में चिन्तन करते रहते हैं । संसार कूप ऐसा हैं जिससे निकलने का कोई साधन नहीं है ऐसे कूप में जो गिरता है, 'इस कूप में गिरने का कारण यह है कि यद्यपि दूर और उच्च स्थान पर खड़ा है, किन्तु पाप कर्म से नीचे संसार कूप में गिर जाता है' उस संसार कूप में गिरे हुए पापी का वहाँ से निकल कर वैकुण्ठ पद के आरोहण आश्रय (साधन) आप के चरण युगल ही हैं । ऊपर जाने के लिए कर्म, ज्ञान आदि साधन निष्फल हैं तब वह आश्रय ढूँढता है, अपने लिए बाधान्तर की सम्भावना को कहती हैं कि, देह है, इसलिए देहधारी हैं जिसे गृह में रहना पड़ता है, उसे गृह में रहने से पूर्व की तरह प्राकृतपन हो जाएगा, यह हो कूप में गिरना है । 'अपि' पद से सूचित किया है, कि कदाचित् आपकी कृपा से देह से सम्बन्ध न होवे, तो किसी प्रकार की चिन्ता नहीं हो, हम सब के मन में वह चरण कमल सदा प्रगट हो कर रहे इस

प्रकार निष्कामपन से गोपियाँ मुख्य भक्त हुईं काम के निवारण के लिए ज्ञान का उपदेश दिया. यों निरूपण किया है ॥४६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे त्रयस्त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७९वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३३वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरण का पञ्चम् अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवद्भक्त शिरोमणि व्रज सीमन्तनियों ने भगवान् श्रीकृष्ण को प्रार्थना की है कि हे पद्मनाभ ! हम संसार-कूप में पड़े हुओं को वहाँ से निकल कर आप तक पहुँचने का साधन केवल आपके युगल-चरण-कमल ही हैं, इसलिए वे चरण-कमल हमारे हृदय में सदा प्रकट होकर विराजें । इस सन्दर्भ में भक्त-वर सूरदासजो एवं परमानन्ददासजी के निम्न पद मननपूर्वक धारण करने योग्य हैं :—

राग बिलावल

चकई री चलि चरन सरोवर, जहां नहीं प्रेम वियोग ।
जहां भ्रम निसा होत नहीं कबहू, सो सायर सुख योग ।१।।
सनक से हंस, मीन से मुनिगन, नख रवि प्रभा प्रकास ।
प्रफुल्लित कमल निमिष नहिं शशि डर, गूंजत निगम सुवास ।।२।।
जिहिं सर सुभग, मुक्ति मुक्ता फल, सुकृत विमल जल पीजे ।
सो सर छांडि कुबुद्धि विहङ्गम, यहां रहि कहा कीजे ।।३।।
जहां श्री सहस्र सहित नित क्रीड़त, शोभित सूरजदास ।
अब न सुहाय विषय रस छिछर, वा समुद्र की आस ।।४।।

राग कान्हरो

चरन कमल वन्दो जगदीश, जे गोधन के संग धाए ।
जे पद कमल धूरि लपटाने, कर गहि गोपिन उर लाए ।।१।।
जे पद कमल युधिष्ठर पूजित, राजसुय में चलि आए ।
जे पद कमल पितामह भीषम, भारत में देखन पाए ।।२।।
जे पद कमल शम्भु चतुरानन, हृदय कमल अन्तर राखे ।
जे पद कमल रमा उर भूषन, वेद भागवत मुनि साखे ।।३।।
जे पद कमल लोक त्रय पावन, बलि राजा के पीठ धरे ।
सो पद कमल दास परमानन्द, गावत प्रेम पियूष भरे ।।४।।

卐

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ८३वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८०वाँ अध्याय
उत्तरार्ध ३४वाँ अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—६"

भगवान् की पटरानियों के साथ द्रौपदी की बातचीत

कारिका—**चतुस्त्रिंशे साधनानां मुख्यंसाधनमीर्यते ।**
कीर्तनं सरसत्वाय स्त्रीभिः स्त्रीणां निरूप्यते ।।१।।

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस ३४वें अध्याय में साधनों में जो मुख्य साधन है, वह कहा जाता है, वह उत्तम साधन रस वाला भगवत्कीर्तन है, जिसको स्त्रियाँ मिल कर परस्पर कहती हैं अर्थात् भगवत्कीर्तन ही उत्तम साधन समझ मिलकर करती हैं ।।१।।

कारिका—**सर्वसाधनसंपत्तिः कृष्णानुग्रहपूर्विका ।**
तदभावे नैव सिद्धयेदित्यनुग्रहवर्णनम् ।।२।।

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण का जब अनुग्रह होता है, तब सर्व साधन सम्पत्ति प्राप्त होती है अर्थात् सब साधन कर सकते हैं । यदि श्रीकृष्ण का अनुग्रह न हो, तो न तो

साधन सम्पत्ति ही प्राप्त होती है और न कर ही सकते हैं, इसलिए उनके अनुग्रह का वर्णन किया जाता है ।।२।।

कारिका—**अनुग्रहस्य स्थिरता सद्बुद्धयैव हरौ भवेत् ।**
माहात्म्यज्ञानतः पुष्टा स्तुत्या कार्यक्षमा भवेत् ।।३।।

कारिकार्थ – हरि में अनुग्रह की स्थिरता सद्बुद्धि से ही होती है, वह सद्बुद्धि भगवान् के माहात्म्य ज्ञान से पुष्ट होती है और वह तब होती है, जब प्रथम भगवान् की स्तुति यशोगान करे, जिससे प्रभु प्रसन्न होकर कार्य करने की सामर्थ्य दें, तब ही सद्बुद्धि परिपक्व हो जाती है ।।३।।

कारिका—**सर्वशक्तियुत कृष्णः श्रोतव्य इति सिध्यति ।**
शक्तीनामप्यभीष्टश्च सज्ज्ञानस्तुतिभावितः ।।४।।

कारिकार्थ—इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वशक्तियुत भगवान् के चरित्रादि श्रवण करने चाहिए, ज्ञानपूर्वक स्तुति से ऐसी भावना उद्भूत होवे, तो शक्तियों का भी अभीष्ट सिद्ध होता है, यहाँ शक्तियाँ महर्षि हैं, वे भावना करते हैं, जिससे उनके अभीष्ट को देने वाले भगवान् ही स्वयं होते हैं ।।४।।

— इति श्री कारिका —

आभास - पूर्वाध्याये गोपीनामुपदेश उक्त प्रार्थना च । अनुग्रहस्त्ववशिष्यते । तदत्र तासामनुग्रहं कुर्वन् प्रसङ्गादन्येषामप्यनुग्रहं कृतवानित्याह **तथानुगृह्ये**ति ।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय में गोपियों का उपदेश कहा और प्रार्थना कही शेष अनुग्रह रह गया, वह यहाँ, उन पर अनुग्रह करते हुए प्रसङ्ग से दूसरों पर भी अनुग्रह किया, यह तथानुगृह्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच–**तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः ।**
युधिष्ठिरमथापृच्छत्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ।।१।।

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी ने कहा कि गोपीजनों के परमगुरु और शरणरूप भगवान् उन पर इस प्रकार अनुग्रह कर, पश्चात् युधिष्ठिर से और सर्व अन्य सुहृदों से कुशल पूछने लगे ।।१।।

सुबोधिनी– **तथा** तैर्यथा प्रार्थितं तथैव तत् हृदये स्वचरणारविन्दं स्थापयित्वा **युधिष्ठिरमथापृच्छ**दिति संबन्धः । भगवतस्तथानुग्रहे हेतुमाह **गोपीनां स** एव **गुरुः गतिः** फलं च । फलसाधनरूपत्वात्तासामन्य उपायो नास्तीति स्वचरणारविन्दं स्थापितवानित्यर्थः । गोपिका उत्तमाधिकारिण्यः परं पुष्टिस्थाः । तदनु मर्यादायां युधिष्ठिरः श्रेष्ठः अतस्तदनन्तरं युधिष्ठिरोऽनुगृहीतः । तत **सर्वांश्च सुहृदः अव्ययमपृच्छत् ।** अव्ययशब्देन कुशल ज्ञानमप्युच्यते । तेन पूर्वं मनसा तेभ्योपि ज्ञानमुपदिष्टमिति लक्ष्यते । तस्य पुनः प्रश्नः स्थिरीकरणार्थः । अनेनोत्तमादयः सर्वे एवानुगृहीता इत्युक्तम् ।।१।।

व्याख्यार्थ—उन्होंने (गोपियों ने) जिस प्रकार प्रार्थना की थी, उसी तरह उनके हृदय में भगवान् अपना चरणारविन्द स्थापन कर, अनन्तर युधिष्ठिर से पूछने लगे, भगवान् ने गोपियों पर इस प्रकार अनुग्रह किया जिसका कारण कहते हैं, कि गोपियों के वे ही गुरु, आश्रय और फल हैं। भगवान् ही फल और साधनरूप होने से उनके लिए कोई अन्य उपाय नहीं है, अतः अपने चरणारविन्द स्थापित किए यह भावार्थ है । गोपिकाएँ उत्तम अधिकारिणियाँ हैं और पुष्टि में अनुग्रह में) स्थित हैं । इनके बाद मर्यादा में युधिष्ठर श्रेष्ठ है, इसलिए इनके अनन्तर युधिष्ठर पर अनुग्रह किया । पश्चात् सर्व सुहृदों से भी कुशल आदि पूछे, इससे जाना जाता है, कि प्रथम मन से इनको भी ज्ञानोपदेश किया, उनसे फिर पूछना स्थिरीकरण के लिए है, इससे जो भी उत्तमादि थे उन सब पर ही अनुग्रह किया यों कहा ।।११।।

आभास – ततस्ते स्वाधिकारं प्रकटयन्तः प्रत्युत्तरमुक्तवन्त इत्याह **त एवमिति ।**

आभासार्थ—अनन्तर वे सब अपना अधिकार प्रकट करते हुए 'त एवं' श्लोक से उत्तर देने लगे ।

श्लोक—**त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः ।**
प्रत्यूचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः ।।२।।

श्लोकार्थ—लोकपति हरि से इस प्रकार अति आदर करके पूछे हुए, वे भगवान् के चरणों के दर्शन से निष्पाप और प्रसन्न चित्त हो, उत्तर देने लगे ।।२।।

सुबोधिनी प्रश्नेनापि महान् संतोषो जात इति ज्ञापयति **लोकनाथेन परिपृष्टा** इति । महतः प्रश्नमात्रमपि संतोषजनकं प्रकृते त्वधिकमप्यस्तीत्याह **सुसत्कृता** इति । आसनादिकृतः सत्कारः, अनेन कायिकपूजा निरूपिता । ततः **प्रत्यूचुः** । पूजितवाणीं निरूपितवन्तः । कायवाङ्मनसां गुणमुक्त्वा दोषाभावमाह **तत्पादेक्षाहतांहस** इति । भगवच्चरणारविन्ददर्शनेन हतपापाः ।।२।।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने कुशल आदि पूछे इससे महान् संतोष हुआ, महान् पुरुष यदि केवल कुशल प्रश्न पूछें तो वह भी सन्तोष कारक है, यहाँ तो उससे भी अधिकता है जो आसन आदि देकर सत्कार किया, इससे कायिक पूजा का निरूपण किया । पश्चात् उत्तर देने लगे, (पूजित वाणी

को कहने लगे) काया वाणी और मन से गुणों का वर्णन कर अपने दोष नष्ट हो गए वह बताते हैं, कि आप के चरणारविन्द के दर्शन से हमारे सब पाप नष्ट हो गए ।।२।।

आभास—यद्भगवता पृष्टं कुशलमस्तीति तत्रोत्तरमाहुः **कुतोऽशिवमिति** ।

आभासार्थ—भगवान् ने जो कुशल पूछा हैं? इस विषय का 'कुत्तोऽशिवं' श्लोक से उत्तर देते हैं

श्लोक—**कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं**
महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित् ।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो
देहंभृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ।।३।।

श्लोकार्थ – हे प्रभु ! आपके चरणारविन्द का रस जो कि कभी महान् पुरुषों के मन द्वारा उनके मुखों से प्रकट हुआ है, वह देहधारियों के देहाभिमान कराने वाली अविद्या को काटने वाला है, उसे जो कर्ण रूप दोनों से पीते हैं, उनका अमङ्गल कैसे वा कहाँ से ? अर्थात् अमङ्गल है ही नहीं ।।३।।

सुबोधिनी—अशिवसंभावनायां कुशलप्रश्नः संगच्छते । अन्यथा नि.सन्दिग्धे प्रश्नो व्यर्थः स्यात् । यद्यपि संसारित्वेनाकुशलं संभवति तथापि सर्वाकुशलनिवर्तकसाधनस्य निरन्तरमनुष्ठानात् कथमशिवमित्यभिप्रायेणाहुः **कुतः अशिवमिति** । तत्कि साधनमित्याकाङ्क्षायामाह **त्वच्चरणाम्बुजासवं महन्मनस्तो मुखनिःसृतमिति**। परमानन्दस्य तव चरणो भक्तिमार्गप्रवर्तकः । अम्बुजं इति सुखसेव्यः । तत्रत्यो मकरन्दरसः रसात्मको भगवान् सर्वत्रैव वर्तत इति । ब्रह्मानन्द एव मार्गान्तरेण समानोतः देहाद्यभिमानवतामपि देहादिविस्मारकत्वेन आसवशब्दवाच्यो भवति स स्वभावत एव परमानन्दरूपो दोषान्तरनिवर्तकश्च । तत्रापि यदि ततोऽप्युत्कृष्टरसेन संमिलितो भवेत् । तदा कि वक्तव्यं रसान्तरेण पुष्टः सन् परमानन्दं प्रयच्छतीति वक्तुमाह **महन्मनस्त** इति । अत्र भक्तिमार्गस्यायं सिद्धान्तः । ब्रह्मानन्दः स्वेच्छया वस्त्रमिव सङ्कुचितात्मा शतगुणित इव घनीभूतः परिणतदाधवदन्यूनः आनन्दघनो भवति तदात्मको भगवच्चरणः स यदा भक्तिमार्गेण गृहीतो भवति तदा भगवद्भक्तानां कायवाङ्मनोभिर्दृढं गृहीतः रसात्मकत्वाद्भक्तानामानन्दरूपं स्रवति । स भक्तिरस इत्युच्यते । सोपि शब्दब्रह्मणि भागवतादावुद्धृतः घटोद्धृतजलमिव महतां श्रवणस्मरणकीर्तनादिभिः इन्द्रियाघातैः तच्छिद्रद्वारा स्वरसो हृद्ध्रदे विनिविशति । स तु भक्तिरसापेक्षयापि पुनर्भक्तेन्द्रियैः पावितत्वात् निर्गलितः ततोप्यधिकरसः । एवं सति यदा यदा वारं वारं भगवद्गुणान् कीर्तयति चरणारविन्दमकरन्दरूपान् भक्तिमार्गानुसारेण गूढार्थरूपान् तदा महन्मनस्तः महन्मनसि स्थित्वा मुखनिःसृतं भवति । **क्वचिदिति** अत्यन्तभक्तसङ्गे रसाविर्भावे च कदाचिदेव वदतीति, **तद्ये अलं कर्णपुटैरुत्तमभितकर्णैः अलमत्यर्थं पिबन्ति** । ननु दुर्लभोऽयं रसः कथं बहुपानसमर्थो भवेत्तत्राह **प्रभो** इति । स हि सर्वसमर्थः तादृशा भक्ताः कोटिशो भवन्ति, यथा सरघाभिः महता क्लेशेन पुष्परसोऽणुप्रमाणेन क्वचित्स्थाप्यते । प्रभूणां तु मधुपूरिताः कलशाः कोटिशो भवन्ति । अतो भगवदाश्रये भूयानेव तादृशो रसः पीयत इति । अशुभसंभावनापि का । अशुभं धर्मादेव निवर्तते । ततो ज्ञानं ततः सवासनाऽविद्यानिवृत्तिः ततः केवलात्मा भगवन्निष्ठो भवति, तदा आनन्दघनो भगवान् प्रकटो भवति । तत्र भक्त्या भक्तिरसः सर्वदोषनिवर्तकः नित्यं संसारविस्मरणहेतुः प्रादुर्भवति । सोपि पूर्वोक्तप्रणालिकया नित्यं पेपीयमानानामशुभसंभावनापि बाधिता. किञ्च देहाभिमाने विद्यमानेपि प्रयत्नमात्रेण गृहीते देहकर्त्री या स्मृतिः तामपि छिनत्तीति मूले गते देहकृतसंभावनापि निरस्ता ।।३।।

व्याख्यार्थ—कुशल प्रश्न तब किया जा सकता है जबकि अकुशल की सम्भावना होवे । जहाँ अकुशल को सम्भावना मात्र भी नहीं, वहाँ कुशल प्रश्न करना व्यर्थ है । यद्यपि संसारीपन से अकुशल की सम्भावना हो सकती है, तो भी सर्व प्रकार के अकुशलों के निवृत्त करने वाले साधन का निरन्तर अनुष्ठान होते रहने से अकुशल कहाँ ? इस अभिप्राय से कहते हैं, कि 'कुतः अशिवं' वह, कौनसा साधन है ? इस आकांक्षा के होने पर कहते हैं, कि आपके चरणारविन्द का आसव जो महान् पुरुषों के मन से मुख द्वारा प्रकट हुआ है, वह ही साधन है । परमानन्द स्वरूप आपका चरण भक्ति मार्ग का प्रवृत्त करने वाला है, वह कमलरूप होने से, सुख से सेव्य है । उस चरणाम्बुज में जो मकरन्दरसात्मक भगवान् हैं, वह सर्वत्र[1] ही व्याप्त हैं, ब्रह्मानन्द ही मार्गान्तर[2] से लाया हुआ देहादि के अभिमानियों के देहादि को भुला देनेवाला होने से 'आसव'[3] शब्द से कहा जाता है, वह सहज ही परमानन्द रूप और अन्य दोषों को मिटाने वाला है । वहाँ भी, यदि उससे भी उत्कृष्ट रस से मिल जावें तो क्या कहना चाहिए ? रसान्तर से पुष्ट होकर परमानन्द देता है, यों कहने के लिए ही कहते हैं कि 'महन्मनस्तः' यहाँ यह भक्ति मार्ग का सिद्धान्त है । ब्रह्मानन्द रस और भक्ति रस को समझाते हैं, कि ब्रह्मानन्द अपनी इच्छा से वस्त्र की तरह सङ्कुचितात्मा शत प्रकार से गुणित की तरह घनीभूत हो परिणाम प्राप्त दधि के समान, कम न होकर घन हो जाता है. तद्रूप भगवान् का वह चरणारविन्द जब भक्ति मार्ग से गृहित होता है तब भगवद्भक्तों की काया, वाणी और मन से दृढ़ भाव से ग्रहण किया हुआ, रसात्मक होने से भक्तों के यहाँ आनन्दरूप हो स्रवित (टपकता) है, न कि ज्ञानियों के पास जसे घन हो के रहता है, वैसा रहता है स्रवित (टपकने) से भक्त उसका सरलता से पानकर आनन्दमय हो जाते हैं । यह भक्तिरस है, जो रस, ज्ञान मार्ग में नहीं है । वह भक्तिरस भी, शब्द ब्रह्मरूप भागवतादि में से ऐसे उद्धृत (ली हुई) है, जैसे घट में उद्धृत जल है वह उससे छिद्रों द्वारा बाहर आता है तब मनुष्य पानकर आनन्द लेते हैं । वैसे ही, भागवतादि में उद्धृत भक्तिरस को जब महान् पुरुष श्रवण, स्मरण और कीर्तन करते हुए मुखरूप छिद्र द्वारा बाहर प्रकट करते हैं, तब भक्तजन उस स्रवित भक्ति रस को अपने हृदयरूप हृद (कुंड) में प्रवेश कराते हैं तब वह रस भक्ति रस से भा अधिक रसप्रद होता है, क्योंकि भक्तों की इन्द्रियों से पवित्र होकर निकलने से, उसमें विशेष रस उत्पन्न होता है । यों होने पर जब-जब बार-बार भक्ति मार्ग के अनुसार, गुढार्थरूप चरणारविन्द के मकरन्द रूप,

---

१– न केवल अधर में ही हैं, यह नियम नहीं है। २– भक्ति मार्ग से

३ भक्ति मार्ग में भक्तों को सेवोपयोगी देह होती है, जिसमें उनका अभिमानादि ममत्व रहता है, उसको चरणारविन्द का रसानन्द भुला देता है इसलिए उसको 'आसव' कहा है, ज्ञानियों को तो देहाभिमान नहीं रहता है इसलिए वहां ज्ञान मार्ग में 'आसव' वत कार्य नहीं होता है जिससे इस पादाम्बुज रस को आसव नहीं कहा जाता है ।

भगवद्गुणों को गाते हैं, तब महान् पुरुषों के मन मे, महतों के मन में स्थित होकर मुख से निकलता है। यह निकलना भी जब कभी (चाहे जब) साधारणतया नहीं होता है, किन्तु कदाचित् ही कभी भक्तों का अत्यन्त सङ्ग होते हुए भी कदाचित् ही रस का आविर्भाव होने पर वह आविर्भूत रस जो भाग्यशाली हैं, वे कर्णरूप दोनों (दूनों) से खूब पीते हैं। यह जो दुर्लभ रस है वह बहुत पीने में कैसे समर्थ होंगे ? जिसके उत्तर में कहते हैं, हे प्रभु ! प्रभु सर्व समर्थ हैं ऐसे तो कोटिशः भक्त हैं, जैसे मधुमक्खी महान् क्लेश से पुष्पों का रस थोड़ा-थोड़ा लेकर कहीं धर लेती है प्रभु के तो मधु से भरे हुए कोटिशः कलश हैं, अतः भगवदाश्रय में बहुत ही वैसा रस पिया जा सकता है ऐसी अवस्था में अशुभ की सम्भावना भी कैसी ? अशुभ तो धर्म से ही निवृत्त हो जाता है पश्चात् ज्ञान द्वारा वासना सहित अविद्या की निवृत्ति होती है फिर केवलात्मा जीवात्मा भगवन्निष्ट होता है। तब आनन्द घन परमात्मा प्रकट होता है, वहाँ भक्ति से सर्वदोषों को निवृत्त करने वाला, नित्य संसार के विस्मरण का हेतु भक्ति रस उत्पन्न होता है। पूर्व कही हुई प्रणालिका से उस रस को नित्य पान करने वालों की अशुभ सम्भावना भी बाधित हो जाती है, और विशेष यह है, कि प्रयत्न मात्र से गृहित देह में अभिमान होते हुए भी, देहकर्त्री स्मृति को भी तोड़ देता है, जब मूल ही नष्ट हो जाता है तब देह कृत संभावना भी नष्ट हो गई ॥३।

आभास— एवं प्रश्नोत्तरमुक्त्वा भगवति स्वचिकीर्षितं विज्ञापयन्ते **हित्वेति**।

आभासार्थ – यों प्रश्नोत्तर कहकर, भगवान् को अपने चिकीर्षित की प्रार्थना 'हित्वात्म' श्लोक से करते है—

श्लोक—**हित्वात्मधाम विधुतात्मकृतव्यवस्थ-**
मानन्दसंप्लवमखण्डमकुण्ठबोधम्।
कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोग-
मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म ॥४॥

श्लोकार्थ—अपने गृह और अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूपा तीन अवस्थाओं का त्याग कर,सकल आनन्द के पूर रूप,अपरिच्छिन्न और अकुण्ठित ज्ञान रूप तथा सर्व धर्मों के नाश हो जाने पर उनकी रक्षा के लिए योगरूप अपनी माया रूप इच्छा-शक्ति से आकृति को धारण करने वाले,परमहँसों के गति रूप आपको हम प्रणाम करते हैं ॥४॥

सुबोधिनी—**आत्मधाम** स्वगृहादिकं **हित्वा** देहं वा। **परमहंसगतिं** त्वां **नताः स्म** इति संबन्धः। यथा कश्चित्पूर्वभावं परित्यज्य उत्तरभावग्रहणार्थं तद्दातारं नमस्यति **हित्वा** इति पदद्वयं वा। **आत्मनोऽपि धाम** तेजोरूपं त्वां तस्मिन् पक्षे दोषाभावः पूर्वोक्त एवानुसंधेयः। नन्ववस्थात्रये विद्यमाने किं भगवन्नमनेनेत्यत आह **आत्मकृताः** अन्तःकरणकृताः तिस्रोऽवस्थाः **विधुताः** दूरीकृता येन। यत्राहंकारमेव दूरीकरोति तत्र तत्कृतानि स्थानानि दूरीकर्तुं कः प्रयासः। न केवलमवस्थानिवर्तकत्वमात्रम्। तथा सति बीजभावेपि तदवस्थाभाव इति भगवतः को विशेषः स्यात् तत्राह **आनन्दसंप्लवमिति**। आनन्दस्य संप्लवः महापूरो यस्य। सोपि चेत्परिच्छिन्नः स दोषस्तदवस्थ इति चेत् तत्राह **अखण्डमिति**। तथापि लोके अज्ञातः परमानन्दो न पुरुषार्थ इति। सुषुप्तौ तथोपालम्भादपुरुषार्थो भवेदित्याशङ्क्याह **अकुण्ठबोधमिति**। न कुण्ठितोऽकुण्ठः बोधो यस्येति। अनुभूयमानानन्दरूप एवेत्यर्थः। नन्वेतादृशः श्रुत्यैकमात्रसमधिगम्यः स्वानुभवप्रकटः ब्रह्मानन्द एव भवति न तु परिदृश्यमानो भगवानिति चेत्तत्राह **कालोपसृष्टनिगमावने आत्तयोगमायाकृतिमिति**। कालेन वेदानां नाशे तत्प्रतिपाद्यधर्माणां तत्संबन्धिनां सर्वेषामपि अवने रक्षार्थं आत्ता योगमायया आकृतिर्येन स एव धर्मरक्षार्थमेव आविर्भूतो न त्वन्य इत्यर्थः। तर्हि कथं न सर्वैस्तथा ज्ञायत इति चेत् तत्राह **परमहंसगतिमिति**। ये संसारादात्मनः पृथग्भावं जानन्ति कर्तुं च शक्नुवन्ति ते हंसाः ततोऽपि ये जीवानां गतिं भगवद्गतिं च विवेचितुं जानन्ति ते परमहंसाः। तेषामेव गतिर्गम्य इत्यर्थः। अतः स्वभजनानुकूलतया कियन्तो धर्मा ज्ञाता इति तथाभूताः भगवद्भावार्थं त्वां **नता** इत्यर्थः।
॥४॥

व्याख्यार्थ—'आत्मधाम' अपने गृह आदि को अथवा देह का त्याग कर, परमहंसों की गति जो आप हैं, उनको हम नमन करते हैं, यों अन्वय है। जैसे कोई पूर्वभाव का परित्याग कर, उत्तर भाव को ग्रहण करने के लिए उसके दाता को नमस्कार करेगा। 'हि' 'त्वा' दो पद हैं, अतः इसका अर्थ आत्मा का भी तेजो रूप तुमको हम नमन करते हैं। इस पक्ष में दोषाभाव, पूर्व कहे हुए का ही अनुसन्धान करना चाहिए। जाग्रत आदि तीन अवस्थाओं के विद्यमान (मौजूद) होते हुए, भगवान् को नमन से क्या लाभ ? इस पर कहते हैं, कि ये अन्तःकरण में उत्पन्न जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओं को जिन्होंने दूर किया है, ऐसे हम नमन करते हैं। जहाँ अहङ्कार को ही फेंका गया है, वहाँ उससे उत्पन्न जाग्रतादि स्थानों को दूर करने में कौनसा प्रयास है, केवल अवस्था निवर्तक मात्र नहीं है, ऐसा होने पर बीज मात्र होते हुए भी उसी अवस्था का भाव रहता है, इसलिए भगवान् की क्या विशेषता हुई ? इस पर कहते हैं, कि भगवान् में आनन्द का महापूर है, जो सबको बहाकर दूर फेंक देता है. यदि वह पूर परिछन्न है तो दोष वैसा ही रहेगा, इसके उत्तर में कहा है कि परिच्छिन्न नहीं है किन्तु अखण्ड है, तो भी यदि लोक में वह परमानन्द अज्ञात है तो कोई पुरुषार्थ नहीं, सुषुप्ति में ऐसा देखा जाता है अतः वह भी अपुरुषार्थ ही होगा, इस पर कहते हैं कि नहीं उनका ज्ञान सर्वत्र है रुका हुआ नहीं है अतः उस आनन्दरूप का सर्वत्र अनुभव हो सकता है। ऐसा केवल श्रुति से ही समझने योग्य तथा अपने अनुभव से ही प्रकट ब्रह्मानन्द ही है न कि जो प्रकट देखने में आता है वह भगवान् ? यदि यों कहते हो, तो इसका उत्तर देते हैं कि 'कालोपसृष्टनिगमावने आतयोगमायाकृतिम्' जब काल वेदों का नाश कर देता है, तब वेद प्रतिपाद्य समस्त धर्मों को तथा उनके सर्व धर्मों की भी रक्षा वास्ते वह ही पूर्ण पर ब्रह्म, अपनी योग माया से स्वरूप को धारण कर प्रकट होकर दर्शन देते हैं, न कोई दूसरा, जब यों है, तो सब क्यों नहीं ? यों समझते हैं, यों कहो तो इसका उत्तर यह कि 'परमहंसगतिम्' जो ससार से आत्मा का पृथक् भाव जानते हैं और करने के लिए समर्थ हैं, वे 'हंस' हैं, उससे भी जो, जीवों की गति और भगवान् की गति का विवेचन करना जानते हैं वे परमहंस हैं, वे ही उनको जान सकते हैं, अतः अपने भजन के अनुकूल कितने धर्म जाने, इस प्रकार वैसे ही भगवद्भाव के लिए हम तुझे प्रणाम करते हैं, यों तात्पर्य है ॥४॥

आभास—एवं पुरुषाणां सर्वभावप्रपत्तिमुक्त्वा स्त्रीणामपि साक्षाद्भगवत्प्रपत्त्यर्थं पुरुषद्वारा जातायामपि तादृशी प्रतिपत्तिर्भगवत्स्त्रीषु दृश्यत इति तस्या मूलकारणं प्रष्टुं सर्वाः स्त्रियो मिलिताः ततस्ताभ्यः श्रुत्वा स्वयं च तथाजाता इति। सर्वाः स्त्रियः पुरुषवदेवेति यदुपाख्यानवृत्तं तदुपक्षिपति **इत्युत्तमश्लोकेति**।

आभासार्थ—इसी तरह पुरुषों के सर्वभाव की प्रपत्ति कहकर स्त्रियों को भी साक्षात् भगवत्प्रपत्ति के लिए पुरुष द्वारा होते हुए भी वैसी प्रतिपत्ति भगवान् की स्त्रियों में दीखती है। यों उसका मूल कारण पूछने के लिए सब स्त्रियाँ इकट्ठी हुईं, पश्चात् उनसे सुनकर और स्वयं वैसी ही हुई यों सर्व स्त्रियाँ पुरुष की भाँति ही हैं, इनका जो इतिहास है वह 'इत्युत्तम' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—ऋषिरुवाच—**इत्युत्तमश्लोकशिखामणेर्जने-**
ष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः।
समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणं-
स्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ॥५॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि इस प्रकार पवित्र कीर्ति-पुरुषों के मुकुट-मणि श्रीहरि की लोक स्तुति कर ही रहे थे, वहाँ अन्धक (यादवों की एक शाखा) और कौरवों की स्त्रियाँ एकत्र हो, त्रिलोक में गायी जाती भगवान् की कीर्ति की गाथाएं परस्पर करने लगीं, वे मैं वर्णन करता हूँ, उसको तुम सुनो ॥५॥

सुबोधिनी—उत्तमैः श्लोक्यत इति उत्तमानां तदेव प्रयोजनमिति। ततोऽप्युत्तमत्वमेव कर्तव्यमिति **उत्तमश्लोकशिखामणेर्** भगवन्तमेव स्तुवन्ति सर्वे जनाः। **स्त्रीणां** पुनस्तदभिज्ञत्वाभावात् तज्ज्ञानार्थं **अन्धकानां** यादवानां **कौरवाणां** च **स्त्रियः समेत्य मिथः गोविन्दकथाः अगृणन्**, तास्ते **वर्णयिष्यामी**ति प्रतिजानीते। ननु तावता किं स्यादित्याशङ्क्याह **त्रिलोकगीता** इति। ताः कथाः लोकत्रयेऽपि गीताः, अतः सावधानतया **शृण्वि**ति सात्त्विकसाधनमिति नियोगः ॥५॥

व्याख्यार्थ—उत्तमजनों से प्रशंसित (बखाने जाते) हैं, यों उत्तमों का यह ही प्रयोजन है, अर्थात् लोक में उत्तम पुरुष इसलिए ही जन्मे हैं उससे भी उत्तम कार्य करना चाहिए, इसलिए कहते हैं, कि उत्तमों से जो प्रशंसित (बखाने जाते) हैं उनमें भी जो मुकुटमणि हैं, वैसे भगवान् की ही सर्व मनुष्य स्तुति करते हैं। स्त्रियों में उनका पूर्ण ज्ञान न होने से, उसको जानने के लिए यादव और कौरवों की स्त्रियाँ आकर आपस में गोविन्द की कथाएं कहने लगीं, वे कथाएं तेरे लिए वर्णन करूँगा यों प्रतिज्ञा करते हैं। इस वर्णन से क्या लाभ होगा ? इस पर कहते हैं कि 'त्रिलोकगीताः' वे कथाएं तीनों लोकों में गाई जाती है इसलिए, सावधान होकर सुन, यह सात्विक साधन है ॥५॥

आभास—तत्र प्रथमं द्रौपद्याः प्रश्नमाह **हे वैदर्भी**ति।

आभासार्थ—वहाँ पहले 'वैदर्भी' श्लोक से द्रौपदी का प्रश्न कहते हैं

श्लोक—दौपद्युवाच—**हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले।**
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥६॥

श्लोकार्थ—द्रौपदी कहने लगी कि हे रुक्मिणी ! हे भद्रे ! हे जाम्बवति ! हे कौसले ! हे सत्यभामा ! हे कालिन्दी ! हे शैव्या ! हे रोहिणी ! हे लक्ष्मणा ! ॥६॥

सुबोधिनी—अष्टस्त्रीणां प्रत्येकमन्यासां समुदायेन च संबोधनम्। सर्वभावेन भगवद्गुणज्ञानार्थम्। मूला प्रकृतिः लक्ष्मीः, ततोऽष्टप्रकृतयो रुक्मिण्याद्याः, ततः षोडशविकाराणां सहस्रशः कार्यप्रकृतयः। सर्वासु भगवतो या लीलाः यथावा तासां परिग्रहः तदनुसंधानेन कृतार्थता भविष्यतीति तथा प्रश्नः। **अच्युत** इति सर्वास्वपि रममाणो न च्युतो भवतीति जीववैलक्षण्यं निरूपितम्। **हे भद्रे हे जाम्बवति हे कौसले हे सत्यभामे हे कालिन्दीति हे शैब्ये मित्रविन्दे**। षोडशसहस्रस्त्रीषु मुख्या रोहिणी। सेवाष्टमहिषीष्वपि कल्पान्तरे। अत एव **क्रमदीपिकासु** सैव गृहीता ॥६॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण की आठपटराणियों में से प्रत्येक का संबोधन है और अन्यों का समुदाय से संबोधन दिया है. सर्वभाव से भगवद्गुणगान के लिए यों किया हैं। मूल प्रकृति लक्ष्मी है, पश्चात् रुक्मिणी आदि आठ प्रकृतियाँ हैं, उनके बाद षोडश विकारों के हजारों कार्य (प्रकृतियाँ) है, इन सब प्रकृतियों में भगवान् की जो लीलाएं हैं अथवा जैसे उनका परिग्रह किया है, उनका अनुसन्धान करने से कृतार्थता होगी, इसलिए वैसा प्रश्न है। श्रीकृष्ण का यहाँ 'अच्युत' नाम देकर यह सूचित किया है, कि सर्व प्रकृतियों में रमण करते हुए भी च्युत (गिरना) नहीं होते हैं, जिससे आपकी जीव से विलक्षणता कही है। हे भद्रे ! हे जाम्बवति ! हे कौसले ! हे सत्यभामे ! हे कालिन्दि, हे शैब्ये ! हे मित्रविन्दे ! सोलह हजार स्त्रियों में रोहिणी मुख्य है, वह ही कल्पान्तर में आठ पटराणियों में भी थी, इस कारण से ही क्रमदीपिकाओं में वह ही ग्रहण की है ॥६॥

श्लोक—**हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवानयम्।**
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया ॥७॥

श्लोकार्थ—हे श्रीकृष्ण की रानियों ! यह हमें कहो कि अपनी माया से लोक का अनुकरण करते हुए स्वयं हरि भगवान् ने तुम्हारा पाणिग्रहण किस प्रकार किया ? ॥७॥

सुबोधिनी—**हे कृष्णपत्न्य** इति साधारणीनां संबोधनम्। **एतदनु**पदमेव प्रष्टव्यम्। **नोऽस्मभ्यं ब्रूत**। तत्किमित्याकाङ्क्षायामाह **भगवान् अयं यथा उपयेम** इति। आन्तरं भावमुत्पाद्य विवाहं कृतवानिति चेत्तत्राह **यथा लोकमनुकुर्वन्निति**। लोकानुकरणं बाह्यप्रकारेण। ननु सर्वान्तरो भगवान् कथं बाह्यप्रकारं करिष्यतीति चेत्तत्राह **स्वमाययेति**। असाधारणमायया बहिरपि स्वभावं प्रकटयतीत्यर्थः ॥७॥

व्याख्यार्थ—हे श्रीकृष्ण की पत्नियों ! यह संबोधन साधारण स्त्रियों के लिए दिया गया है, इसके बाद साथ में ही पूछना चाहिए, हमको कहो। क्या कहें ? ऐसी आकांक्षा होने पर, कहती हैं, कि इन भगवान् ने जैसे आपका पाणिग्रहण किया, भीतर के भाव को उद्भूत कर विवाह किया. यदि यों पूछतो हो तो हम कहती हैं, जैसे लोक करते हैं उसी बाह्य प्रकार से किया जो भगवान् सर्वान्तर हैं वे बाह्य प्रकार से कैसे करेंगे ? जिसका उत्तर देती हैं कि 'स्वमायया' असाधारण अपनी माया से बाहर भी स्वभाव को प्रकट करते हैं ॥७॥

आभास—तत्र प्रथमं वैदर्भी स्वविवाहप्रकारमाह **चैद्याय मार्पयितुमिति**।

आभासार्थ—वहाँ पहले वैदर्भी अपने विवाह का प्रकार 'चैद्याय' श्लोक से कहती है—

श्लोक—रुक्मिण्युवाच—**चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु**
राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः।
निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथा-
त्तच्छ्रीनिकेतचरणोस्तु ममार्चनाय ॥८॥

श्लोकार्थ—रुक्मिणी ने कहा कि मुझे शिशुपाल को दिलाने के लिए जरासन्ध आदि राजा धनुष तैयार करके आ उपस्थित हुए थे, उस समय अजेयमुभट लोगों के सिर पर जिनके चरणों की रज मुकुट के समान विद्यमान है, ऐसे हरि सिंह बकरियों के टोले में से जैसे अपने भाग को ले जाता है, वैसे ही अपने भाग रूप मुझको लेकर आ गए। उन लक्ष्मी के निवास रूप हरि के चरणों की मैं नित्य पूजा किया करूँ ॥८॥

सुबोधिनी—राजा मत्पिता भ्राता वा। यावद्दास्यति ततः पूर्वमेव नेष्यतीति तन्निराकरणार्थमुद्यतकार्मुका राजानो जाताः। ततश्च **चैद्याय** मामर्पयिष्यति राजद्वारा एवं स्थिते **अजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः** भगवान्**निन्ये**। न जेयो भटोपि येषां ते **अजेयभटाः**। भटः पदातिः कीर्तिवक्ता दूतरूपो वैतालिको वा। तेषां **शेखरितः** मुकुटेष्वधिरूढः **अङ्घ्रिरेणुर्यस्य**। तादृशं भगवन्तं जेष्यन्तीति दूरापास्तमन एव मां **निन्ये**। निःशङ्कार्थमाह **मृगेन्द्र इवेति**। एवमावश्यकनयने हेतुः **भागमिति**। अन्येषामप्रयोजकत्वमाह **अजाविय्थादिति**। अजानामवीनां च समूहात्। येपि सात्त्विका येपि राजसाः ते उभयेप्यप्रयोजकाः। एव पुरुषोत्तमत्वं प्रकटितमिति। मम सर्वपुरुषार्थसिद्धयर्थं तच्चरणो **ममार्चनायास्तु**। प्रत्यक्षमेव तत्र सर्वपुरुषार्थसत्त्वमित्याह **श्रीनिकेतेति**। स्वभागत्वात् शरीरं स्वयमेव भोक्ष्यति। तत्र प्रसङ्गादागतो जीवः भगवद्भक्तिमेव वाञ्छतीति निरूपितम् ॥८॥

व्याख्यार्थ—मेरे पिता वा भाई जब तक शिशुपाल को दें, उससे पहले ही, श्रीकृष्ण ले जाएंगे इस शङ्का से, उसका निराकरण करने के लिए, शिशुपाल के पक्ष वाले राजा लोग धनुष ले तैयार होकर आके उपस्थित हुए। पश्चात् यह विचारणा हुई, कि चैद्य को देंगे वा राजद्वारा

मुझे अर्पण की जाएगी, निश्चित न होने से, जिनको शूर भी नहीं जीत सकते हैं, वे अजेय भट कहे जाते हैं, भट पद का तात्पर्य है, पैदल सैनिक, यशोगान करनेवाले, दूत वा वैतालिक, इन सब के मुकुटों पर स्थित है चरणरज जिनकी, ऐसे भगवान् को ये क्या जीतेंगे ? ये तो दूर से ही अस्त हैं इससे ही मुझे ले आए। किसी प्रकार की लेने में शङ्का वा रुकावट न हो सकी। इसको दृष्टान्त देकर समझती हैं कि जैसे सिंह बकरियों के झुंड से अपना भाग ले जाता है, वसे ही प्रभु भी अपना भाग जो मैं थी उसको ले आए, जो सात्विक वा राजस थे वे तो अप्रयोजक थे, इस प्रकार पुरुषोत्तमपन प्रकट किया। मेरे सर्व पुरुषार्थ सिद्ध होवे इसलिए उनका चरण हो मेरी पूजा के लिए हो, कारण कि उन चरणों में सर्व प्रकार के पुरुषार्थ रहते हैं यह प्रत्यक्ष दीखता है, इसलिए चरणों का विशेषण 'श्रीनिकेत' है श्री का यहाँ सतत निवास है, यह शरीर आपका ही भाग है, इसलिए स्वयं ही इसका उपभोग करेंगे ही. इससे यह सूचित किया है कि इस शरीर में प्रसङ्ग से आया हुआ जीव भगवान् की भक्ति ही चाहता है, यों निरूपण किया है ॥८॥

आभास—यद्यपि द्रौपदी परिगणनां व्यत्यासेन कृतवती। तथापि क्रमेणैव ताः स्त्रियः स्ववृत्तान्तं निरूपयन्ति। अतस्तदनन्तरभाविनी सत्यभामा स्ववृत्तान्तमाह **यो मे सनाभीति**।

आभासार्थ—यद्यपि द्रौपदी ने गणना बिना क्रम से की है, तो भी वे स्त्रियाँ क्रम से ही अपना वृत्तान्त निरूपण करती है, अतः रुक्मिणी के बाद सत्यभामा अपना हाल 'यो मे सनाभि' श्लोक से कहती है—

श्लोक—सत्यभामोवाच—**यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन**
लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार।
जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात्स तेन
भीतः पितादिशत मां प्रभवेपि दत्ताम् ॥९॥

श्लोकार्थ—सत्यभामा कहने लगी कि भ्रातृ वध होने से सन्तप्त मेरे पिता ने जो कलङ्क श्रीकृष्ण पर लगाया था, उसको मिटाने के लिए भगवान् ने जाम्बवान् को जीत कर, मणि लाकर मेरे पिता को दी, तब उस अपराध से मेरे पिता डर गए थे, अतः वाग्दान होने पर भी मुझे श्रीकृष्ण को अर्पण किया ॥९॥

सुबोधिनी—**सनाभिः** सोदरो भ्राता तस्य **वधो** यद्यप्यन्यत्र जातः तथापि तद्वधेन तप्तहृदयः मत्पिता तेन अविचार्यैव भगवति **लिप्तोभिशापः तमपमार्ष्टुं ऋक्षराजं जित्वा। अथ** भिन्नप्रकारेण स्वयं प्रतिगृह्य पारिबर्हतया दत्तं **रत्नं** तस्मै मत्पित्रे **उपाजहार**। ततो **भीतो मत्पिता तेन** रत्नेन सह **मामादिशद्दत्तवान्**। यद्यपि तस्य भार्याः सिद्धाः। तथापि प्रभुरिति। अन्यस्मै **दत्तामपि** वाग्दत्ताम्। 'दत्तामपि हरेत्कन्यां श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्' इति। क्षत्रियविषयमेतत्। 'नैतत्पूर्वेषयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे। यदन्यस्याप्यनुज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते' इति मनुवाक्यं ब्राह्मणविषयं ऋषिपदप्रयोगात्। किञ्च। विवाहे बन्धूनामैकमत्यं मृग्यते तदैवाधिकारः। ततोधि-

कारसंपादनार्थमेव मां दत्तवान्। अतः प्रायश्चित्तार्थं दत्ताहं दोषनिर्घातार्थं जातेति स्वार्थं नावशिष्टेति न किञ्चित्कामये इत्यर्थः। अत एव भगवतः सा प्रिया। पित्रर्थमेव च व्यापृता। अत एव तस्याः स्वर्गो नास्तीति पारिजातापहरणं स्वर्गे च नयनम् ॥९॥

व्याख्यार्थ—सगा भाई यद्यपि दूसरे स्थान पर मरा था, तो भी उसके वध से सन्तप्त हृदय वाले मेरे पिता ने बिना विचार किए भगवान् पर उसके मारने का कलङ्क लगाया उस कलङ्क को मिटाने के लिये रीछों के राजा को जीतकर मणि लेली, 'अथ' जुदा प्रक्रम करते हैं, वह मणि स्वयं लेकर मेरे पिता को भेट वा उपहार रूप में दे दी। झूठे कलङ्क लगाने से डरे हुए मेरे पिता ने उस रत्न सहित मुझे भी श्रीकृष्ण को अर्पण किया। यद्यपि उनको स्त्रियाँ तो थीं ही तो भी 'प्रभु' जानकर मुझे भी अर्पण किया, यद्यपि मेरा वाग्दान हो चुका था, ऐसा करने को शास्त्र में क्षत्रियों के लिए आज्ञा है, जैसे कि कहा है 'दत्तामपि हरेत् कन्यां श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्' यदि श्रेष्ठ वर आ जावे, तो वागदान की हुई कन्या उसको दी जावें, मनु ने कहा है कि जो कन्या एक को दी हो वह फिर दूसरे को नहीं देनी चाहिए, कारण कि आगे के ऋषियों ने ऐसा नहीं किया है और न दूसरे करेंगे यह मनु का वाक्य ब्राह्मणों के लिए है क्योंकि श्लोक में ऋषि पद से ब्राह्मण कहे हैं, विवाह बान्धवों की भी एक राय की जानी है, तभी ही अधिकार है इसलिए अधिकार का सम्पादन करने के लिए ही मुझे दिया, अतः मेरे पिता ने जो दोष किया था उसको मिटाने का प्रायश्चित यह किया कि मुझे कृष्ण को अर्पण किया, मैं दोष नाश करने के लिए ही हुई, इससे अपने लिए नहीं रही, इसलिए मैं कुछ कामना[1] नहीं करती हूँ इस कारण ही वह भगवान् को प्यारी है, पिता के लिए ही वह व्यापृत थी, अतएव उसको स्वर्ग नहीं इसलिए पारिजात ले आए और स्वर्ग दिखाया ॥९॥

आभास—जाम्बवतीत्याह **प्राज्ञायेति**।

आभासार्थ—'प्राज्ञाय' श्लोक में जाम्बवती ने इस प्रकार कहा—

श्लोक—जाम्बवत्युवाच—**प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदैवं**
सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाभ्ययुध्यत्।
ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां
पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी ॥१०॥

श्लोकार्थ- जाम्बवती ने कहा कि मेरे पिता जाम्बवान् ने प्रथम यह नहीं जाना कि ये मेरे इष्टदेव स्वामी हैं, अतः सत्ताईस दिन तक युद्ध किया, फिर जब जाना कि स्वामी हैं, तब चरणों में गिरकर भेंट में मणि के साथ मुझे अर्पण किया, अतः मैं तो इनकी दासी हूँ ॥१०॥

१- कामना न करने वालों को सद्योमुक्ति होती है इसलिए स्वर्ग नहीं,

सुबोधिनी—अज्ञाय अज्ञात्वा प्रकर्षेण अज्ञात्वा **प्राज्ञाय** कश्चिन्मनुष्य इति भगवन्तं ज्ञात्वा मम **देहकृत्** कन्यापिता। महता पापेनैव कन्यापितृत्वं भवतीति। अत एव दुःखायैवेति शास्त्रम्। अतो भगवन्तं न ज्ञातवान्। **अमुमित्यग्रे** प्रदर्श्यहि वस्तुतस्त्वयं **निजः** आत्मा **नाथः** स्वामी **दैवं** पूज्यश्च। ननु तादृशो राम इति चेत्तत्राह **सीतापतिमिति**। पूर्वं सीतायै महद्दुःखं दत्त्वा ततस्तां बहुधा अवतार्य तदर्थं स्वयमप्यागत इत्यर्थः। अज्ञान तावदेव यावद्भगवतः सान्निध्यं न भवति। तत्र त्रिगुणानां भेदाः सप्तविंशति तत्त्वानीति तत्तद्व्यवधानात् भगवदज्ञानमिति। तन्निराकरणार्थं**ममुनाभ्ययुध्यत्**। ततो व्यवधानेषु गतेषु **परीक्षिते** परीक्षायां जातायां भगवानेवायमिति ज्ञात्वा **अर्हणं** पूजायोग्यं **मां पादौ प्रगृह्य मणिना** सह **उपाहरत्**। एवं विवाहमुक्त्वा कामनामाह **अहममुष्य दासी**। यो हि स्वतन्त्रो भवेत् स कामयेत। अहं तु दासी दास्यव्यतिरेकेणान्यदस्याः कामिकं न भवति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—जाम्बवती ने कहा कि मेरे पिता ने भगवान् को भगवान् न समझ केवल यों समझा कि वे कोई मनुष्य है। मेरी देह को उत्पन्न करने वाला होने से (कन्या का) मेरा पिता है। जब पूर्व जन्म में महान् पाप किया जाता है तो उसका फल कन्या का पिता होना होता है, इसलिए ही शास्त्र में कहा है, कि कन्या का जन्म दुःख के लिए ही है- अतः यह भगवान् हैं यों न जान सका। 'अमुं' पद से यह बताया है कि ओह! यह सामने स्थित तो वास्तविक अपनो आत्मा नाथ, दैव और पूज्य है। वैसे तो यह राम हैं, किन्तु यों है तो भी सीता के पति हैं। पहले सीता को बहुत दुःख देकर पश्चात् उसको अनेक तरह से अवतार धारण कराके उसके लिए स्वयं भी आए हैं। अज्ञान तब तक रहता है, जब तक भगवान् का सानिध्य नहीं होता है, उसमें तीन गुणों के भेद सत्ताईस तत्व है, उनके व्यवधान होने के कारण, भगवान् का अज्ञान रहता है। उस अज्ञान के निराकरण करने के लिए इनसे युद्ध करने लगे, युद्ध करने से रुकावटें नष्ट हो गई, परीक्षा भी हो गई यह ज्ञान हो गया है कि'यह ही भगवान् हैं,यों पूर्णज्ञान प्राप्तकर,पूजा योग्य का चरण पकड़कर अर्थात् चरणों में पड़करमणि के साथ मुझे भी भगवान् को दे दिया यों विवाह का वर्णन कर कामना कहती है, जो निश्चयपूर्वक स्वतन्त्र होता है, वह कामना करता है मैं तो दासी हूँ अतःदास्य के सिवाय दूसरी कामना ही नहीं है ॥१०॥

आभास—ततः प्राप्ता कालिन्दी स्ववृत्तान्तमाह **तपश्चरन्तीमिति**।

आभासार्थ—अनन्तर कालिन्दी आई, वह 'तपश्चरन्ती' श्लोक से अपना वृत्तान्त कहती है—

श्लोक—कालिन्द्युवाच—**तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया।**
सख्योपेत्याग्रहीत्पाणिं याहं तद्ग्रहमार्जनी ॥११॥

श्लोकार्थ—कालिन्दी ने कहा कि मुझे अपने चरण स्पर्श की इच्छा से तपस्या करती हुई जानकर, प्रथम अपने मित्र अर्जुन द्वारा मिलकर, बाद जिन्होंने मेरा पाणिग्रहण किया, उन भगवान् के घर में सदा सोहनी करने (बुहारा लगाने) वाली दासी मैं हूँ ॥११॥

सुबोधिनी—अर्जुनादिप्रेषणं व्याजार्थम् । वस्तुतस्तु स्वयमेवाज्ञाय **सख्या** सह **उपेत्य पाणिमग्रहीत्** । एवं विवाहमुक्त्वा कामनामाह **याहं तद्गृहमार्जनी**ति । मम तु कामना नास्ति स्वभावत एवाहं कालिन्दी तद्गृहस्य मथुरायाः **मार्जनी** शोधिका । तद्गृहं वा सूर्यमण्डलं ततः शोधयित्वा वा निर्गता । अथवा । गृहदासीत्वं स्वस्याः कामितमेव जातमिति निरूपयति ।११।

व्याख्यार्थ—अर्जन आदि का भेजना केवल नाट्य था, वास्तव में तो स्वयं ही आज्ञा कर मित्र के साथ आके पाणिग्रहण करने लगे इस प्रकार विवाह कर कामना कहती है, मैं जो हूं वह उनके घर की बुहारी (झाड़ू) देने वाली दासी हूँ, मुझे तो कामना नहीं है क्योंकि में स्वभाव से ही उनके घर मथुरा को साफ करने वाली कालिन्दी हूँ उनका गृह अथवा सूर्य मण्डल उससे शोध कर निकली हूँ अथवा गृहदासीपन ही अपना कामित हो गया है, यों निरूपण किया है ।।११।।

आभास—ततोऽनन्तरा मित्रविन्दा स्ववृत्तान्तमाह **यो मामिति** ।

आभासार्थ—इसके बाद मित्रविन्दा 'यो मां' श्लोक में अपना वृत्तान्त कहती है—

श्लोक—भद्रोवाच—**यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान्निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः ।**
भ्रात्रंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौकस्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्रयवनेजनत्वम् ।।१२।।

श्लोकार्थ—भद्रा ने कहा कि लक्ष्मी निवास भगवान् स्वयंवर में आकर राजाओं को तथा अपकार करने वाले मेरे भ्राताओं को भी जीतकर, जैसे सिंह श्वानों (कुत्तों) के झुण्ड में गिरे हुए अपने भोज्य को ले लेता है, वैसे ही मुझे वहाँ से द्वारका ले आए मैं उनके चरण धोने वाली दासी सदा ही हूँ ।।१२।।

सुबोधिनी—**स्वयंवरे उपेत्येति** । पूर्वं स्वत एवासक्तापि भ्रात्रा निवार्य स्वयंवरे योजिता ततः **स्वयंवरे** स्वयमुपेत्य सर्वानेव **विजित्य** पैतृष्वस्रेय्येवाहमिति स्वभागत्वादन्यभागमन्यो गृह्णन् श्वा भवतीति **श्वयूथगमिव द्विपारिः** सिंहः धर्मभूरक्षकानपि राज्ञो जयतीति । एवं मे **भ्रात्रृन्नपकुरुतः विजित्य** । यद्यपि विन्दानुविन्दौ द्वावेव प्रतिकूलौ तथापि तत्पक्षपातिनोन्येपि गोत्रजा इति भ्रात्रृनिति बहुवचनम् । **च**कारादन्येपि प्रतिकूलाः सूचिताः । ततः **स्वपुरं** निन्ये द्वारकां मां नीतवान् । अनेन मध्ये विघ्नो निवारितः । **श्रियौक** इति पुरस्य सर्वसमृद्धिरुक्ता । ततः कामितमाह **तस्य अङ्घ्रयवनेजनत्वं** अनुभवं जन्मनि जन्मनि भवतु अङ्घ्रयवनेजनी पादप्रक्षालनकर्त्री । एतत्कामितम् ।।१२।।

व्याख्यार्थ—प्रथम तो मैं स्वयं ही भगवान् में आसक्त चित्त वाली थी तो भी, मेरे भ्राता मुझे स्वयंवर में लाए, तब भगवान् ने स्वयंवर में आकर सबको जीतकर भूआ की बेटी मैं हूँ इसलिए अपना भाग होने से, दूसरे का भाग यदि कोई दूसरा ग्रहण करे तो वह श्वान सम होता है इसलिए

वे राजा कुत्तों के समान थे इसलिए इसी प्रकार का दृष्टान्त दिया है जैसे सिंह कुत्तों के मध्य में पड़े हुए अपने भाग को ले जाता है वैसे ही भगवान् भी नृपरूप श्वानों के मध्य से अपने भाग मुझको वहाँ से छीनकर द्वारका ले आए, धर्म और भू के रक्षक राजा को भी भगवान् जीतते हैं, इसी प्रकार अपकार करनेवाले मेरे भ्राताओं को भी जीता। यहाँ भ्रातृन् बहुवचन का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यद्यपि भगवान् के विरुद्ध तो विन्द और अनुविन्द दोनों भाई थे किन्तु उनके पक्ष में दूसरे भी गोत्र में उत्पन्न बांधव थे, इसलिए 'बान्धव' पद बहुवचन दिया है, च' पद से दूसरे भी जो प्रतिकूल थे उनकी भी सूचना की है। मुझे लेकर सीधे द्वारका आए, यों कहने से यह बताया है कि मध्य में किसी प्रकार का विघ्न न हुआ। 'श्रियौकः' पद से नगर की समृद्धि कही है, पश्चात् कामना का निरूपण करती है, कि मुझे यही कामना है कि मैं जन्म जन्म में भगवान् के चरणों का प्रक्षालन ही करती (धोती रहूं ।।१२।।

आभास—नाग्नजिती त्वाह **सप्तोक्षण** इति ।

आभासार्थ—'सप्तोक्षण' श्लोक से नाग्नजिती अपना वृत्तान्त कहती है.

श्लोक—सत्योवाच—**सप्तोक्षणोतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान्**
पित्रा कृतान् क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ।
तान् वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य
क्रीडन् बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ।।१३।।

श्लोकार्थ—नाग्नजिती ने कहा कि मेरे पिता ने राजाओं की वीरता की परीक्षा करने के लिए बहुत तीखे शृङ्ग, अति बल और पराक्रम वाले तथा वीर पुरुषों के दुष्ट अभिमान को उतारने वाले सात बैल अङ्कित कर छोड़ रखे थे, उन्हें भगवान् ने इसी भाँति खेल ही खेल में बाँध लिया, जैसे बालक बकरी के बच्चों को बाँध लेते हैं ।।१३।।

सुबोधिनी—**अतिबलं वीर्यं** पराक्रमः **सुतीक्ष्णे शृङ्गे** च येषां तान् **सप्त** व्यवसनात्मकान् अत एव **क्षितिपवीर्यपरीक्षणार्थं पित्रा कृतान्** । यो हि व्यसनग्रस्तो भवति स कुतो भोक्ता भविष्यतीति स्वकन्यायाः भोगः सिध्यत्विति पित्रा ते कृताः । व्यसनानि च त्रिगुणात्मकानि । अतो बलीवर्दास्तथानिरूपिताः । वीर्यं सात्त्विकं, बलं तामसम्, शृङ्गे राजसे । किञ्च । व्यसनानि धर्मादिभिर्निराकर्तुमशक्यानीति ज्ञापयितुं तेषां विशेषणम् । **वीरदुर्मदहन** इति वीराः शूरा राजानः वीर्यं धर्मस्थानीयमुक्तं तथापि दुरभिमानजनकत्वात् न व्यसननाशने समर्थमित्यभिप्रायेणाह **दुर्मदे**ति । वीराणां दुष्टं मदं घ्नन्तीति दुर्मदहनः । अतस्तरसा शीघ्रमेव **निगृह्य** यतो व्यवसनानामेव व्यसनं भवति । ततः **क्रीडन्निव** लौकिकव्यापारेणैव तन्निग्रहं कृत्वा । हेत्याश्चर्ये । बहिर्कैरपि दुर्निवार्यं कथं लौकिकेन निवारितवानिति लौकिकेपि प्रयासाभावायाह **यथा शिशवोजतोकानिति** । स्थूलाः अजबालकान् बिभ्रतीति बालका एवं बन्धनार्थं बिभ्रतीति । तथाप्येकेन न भवतीति बहुवचनम् । व्यसनशान्त्यर्थं सप्ततन्तुं यज्ञं बालकाः कुर्वन्तीति ध्वनितम् ।।१३।।

व्याख्यार्थ—बहुत बलशाली पराक्रम तथा बहुत तीखे सींगधारी सात व्यसन रूप बैल, राजाओं की शूरवीरता की परीक्षा के लिए पिता ने तैयार किए। पिता ने इनको इसलिए तैयार किया, कि जो व्यसन ग्रस्त होता है वह कैसे भोक्ता बन सकेगा ? इसलिए अपनी कन्या का भोग सिद्ध हो, तदर्थ पिता ने तैयार किए। व्यसन तीन प्रकार के होते हैं, अतः बैल भी ऐसे निरूपण किए। 'वीर्य' सात्विक है, 'बल' तामस है और सींग राजस है। यद्यपि व्यसनों को धर्म आदि निराकरण नहीं कर सकते हैं, यह जताने के लिए उनके ये विशेषण देकर समझाया है कि 'दुर्मदहनः' वीरों में जो दुष्ट मद है, उसको नाश करने वाले हैं अतः शीघ्र ही पकड़ लिया, क्योंकि आप व्यसनों के ही व्यसन हैं, इस कारण से मानों खेलते ही खेलते लौकिक की तरह ही, उनको पकड़ लिया ह' यह आश्चर्य है, वैदिक युक्तियों से भी जो कठिनाई से पकड़ में आने वाले हैं, उनको लौकिक से कैसे हटा दिया ? फिर लौकिक में किसी प्रकार का परिश्रम भी नहीं हुआ, जिसको वैसा ही दृष्टांत देकर समझाती है। स्थूल बालक बकरी के बच्चों को पकड़ते हैं किन्तु बन्धन के लिए डरते हैं, क्योंकि एक से नहीं बाँधे जाते हैं इसलिए बहुवचन दिया है. व्यसन शान्ति के वास्ते बालक सात तन्तुओं वाले यज्ञ को करते हैं, भगवान् ने भी उनका बन्धन ही किया यह ध्वनि निकलती है- अर्थात् ऐसा भाव प्रकट होता है ॥१३॥

श्लोक— **य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् ।**
पथि निर्जित्य राजन्यान्निन्ये तद्दास्यमस्तु मे ॥१४॥

श्लोकार्थ – इस प्रकार जिसका मूल्य पराक्रम ही है, उस मुझ दासी का पाणि-ग्रहण कर जिस मार्ग से पधार रहे थे, उस मार्ग में जो राजा आए, उनको तथा उनकी चतुरङ्गिणी सेना को जीतकर, मेरे पिता की दी हुई दासियाँ सहित मुझे द्वारका ले आए, उनकी सदा दासी बनी रहूँ ॥१४॥

सुबोधिनी—ततः स्वाभिलषिते सिद्धे पित्रैव **दत्तां मां वीर्यमेव शुल्कं** यस्याः। **दासीभिः** सहिताम्। **राजन्यांस्तेषां चतुरङ्गिणीं** सेनां च **पथि** जित्वा **मां** स्वगृहं **निन्ये**। कामनामाह **तद्दास्यमस्त्विति** ॥१४॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् अपना अभिलषित सिद्ध होते ही, जिसका शुल्क, वीर्य ही है ऐसी जो मैं हूं, उसको पिता ने इनको दासियों सहित अर्पण की थी मार्ग में राजाओं को तथा उनकी चतुरङ्गिणी सेना को जीतकर मुझे अपने गृह (द्वारका) ले आए, अपनी कामना प्रकट करती है कि इनकी ही मैं दासी बनी रहूँ ॥१४॥

आभास—ततो भद्रा निरूपयति **पिता मे** इति।

आभासार्थ - पश्चात् भद्रा 'पिता मे' श्लोक से अपना वृतान्त कहती है–

श्लोक—भद्रोवाच- **पिता मे मातुलेयाय कृष्णे कृष्णाय दत्तवान् ।**
तच्चित्तां भ्रातृभिर्दत्तामक्षौहिण्या सखीजनैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—भद्रा ने कहा कि मेरा चित्त भगवान् में ही था, अतः मेरे पिता ने (भ्राताओं द्वारा वाग्दान कराके) मामा के पुत्र श्रीकृष्ण को अक्षौहिणी सेना और सखियों के साथ मुझे भगवान् को अर्पण की ॥१५॥

सुबोधिनी - मम **मातुलेयो** भगवान् श्रुतिकीर्तिकन्येयम्। हे **कृष्णे** द्रौपदि कृष्णार्थं वा। विशेषतो दानहेतुः **तच्चित्तामिति**। **भ्रातृभिर्दत्तामिति** वाग्दानार्थं भ्रातर एव द्वारकां गता इति ज्ञेयम्। इदं तु दानं सङ्कल्पपूर्वकम्। **अक्षौहिणी सख्यश्च** दाने सहभावमापन्नाः ॥१५॥

व्याख्यार्थ - यह भद्रा श्रुत कीर्ति की कन्या है श्री कृष्ण इसके मामे के पुत्र हैं। हे कृष्णे! (द्रौपदि) अथवा कृष्ण के लिए मुझे दी, कृष्ण को देने का विशेष कारण यह है, कि उनमें मेरा चित्त था, भ्राताओं ने द्वारका जाकर मेरा वाग्दान किया था, यह दान केवल वाणी से नहीं था किन्तु सङ्कल्प पढकर किया हुआ है, दान में अक्षौहिणी और सखियां भी साथ में थीं ॥१५॥

आभास—कामनामाह **अस्य मे पादसंस्पर्श** इति ।

आभासार्थ— अस्य मे पाद संस्पर्श' श्लोक में अपनी कामना का वर्णन करती है

श्लोक—**अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि ।**
कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ॥१६॥

श्लोकार्थ—मैं कर्मों से कहीं भी भ्रमण करती रहूँ, तो भी वहाँ जन्म-जन्म में मुझे भगवच्चरण का स्पर्श होता रहे; क्योंकि अपना कल्याण इसमें है ॥१६॥

सुबोधिनी – **जन्मनि जन्मनि भवेदिति**। यदा यदा भगवानवतीर्णो भविष्यति तदा तदा लक्ष्मीवदहमप्यागमिष्यामीति। ननु स्वयमेव तच्छक्तित्वाद्भविष्यति किमिति प्रार्थ्यत इति चेत्तत्राह **कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया** इति। जीवभावात्कर्मसंबन्धः अन्यथा अन्यसंबन्धिनी कथं भवेयम्। किमतो यद्येवं तत्राह **येन** पादस्पर्शन **तत्प्रसिद्धं** ब्रह्मानन्दात्मकं **श्रेयो** भवति। **आत्मनः** स्वस्यात्मगामि वा। सप्तैता भक्तिभेदाः ॥१६॥

व्याख्यार्थ जन्म-जन्म में चरण स्पर्श होवे, जब जब भगवान् अवतार लेंगे तब तब लक्ष्मी की भाँति मैं भी आऊंगी, भगवान् की शक्ति होने से स्वयं होगी, तो फिर प्रार्थना क्यों करती हो ? यदि यों कहती हो इसका उत्तर यह है कि, कर्मों से फिरने वाली होने से प्रार्थना करती हूँ, जीव भाव से कर्म सम्बन्ध है, अन्यथा यदि जीव भाव न हो तो कर्म सम्बन्ध भी न हो तो दूसरे से भी सम्बन्ध न होना चाहिए, वह हुआ है जैसा कि श्रुति कीर्ति की कन्या कर्मों के कारण ही हुई हूँ, यदि यों है तो भी क्या हुआ ? इसका उत्तर देती है कि जिसके पाद स्पर्श से वह प्रसिद्ध ब्रह्मानन्द रूप श्रेय आत्मा को प्राप्त होता है इसलिए उसकी प्राप्ति के वास्ते प्रार्थना करनी आवश्यक है ॥१६॥

ये रुक्मिणी आदि भक्ति के सात भेद हैं-

कारिका—**अर्चनात्मा रुक्मिणी स्याच्छ्रवणं तदनन्तरा ।**
सर्वपापक्षयः पूर्वं यस्मादत्र निरूप्यते ।
एकान्ते च प्रदत्तेति तृतीया स्मृतिरुच्यते ।
चतुर्थ्येव चतुर्थी स्यात् द्वितीया पञ्चमी मता ।
सर्वान्बलवतो दुष्टान् विनिवार्यैव कीर्तयेत् ।
षष्ठी तु सप्तमी प्रोक्ता सप्तमी तद्विपर्ययम् ।
नमने पादसंस्पर्शः प्रतिवारं भवेदिति ।
सख्यरूपा त्वष्टमीयं महती विनिरूप्यते ॥१६॥

कारिकार्थ—ये जो सात पटरानियाँ कही, वे सात ही भक्तिरूपा हैं । अर्चनरूपा भक्ति रुक्मिणी है, श्रवणरूपा सत्यभामा है । इन भक्तियों के करने से सर्व पाप क्षय होते हैं । जाम्बवती एकान्त में दी हुई है, इस कारण से यह स्मरणरूपा भक्ति है, कालिन्दी पाद-सेवनरूपा भक्ति है, मित्रविन्दा कीर्तनरूपा भक्ति है, सर्व बलवान् दोषों को दूर कर कीर्तन करना चाहिए । छठी-सातवीं कही है, सप्तमी उसके विपरीत है, छठी पटरानी दास्यरूपा भक्ति है, लक्ष्मणा आठवीं सख्यरूपा भक्ति है, वह इन सर्व में श्रेष्ठ है ॥१६॥

आभास—लक्ष्मणा स्ववृत्तान्तं द्रौपद्यभिमाननाशायाह **ममापीति** ।

आभासार्थ—द्रौपदी के अभिमान के नाशार्थ लक्ष्मणा ममापि' श्लोक से अपना वृत्तान्त कहती है ।

श्लोक—लक्ष्मणोवाच—**ममापि राज्यच्युतजन्मकर्म**
श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया
वृतः सुसंमृश्य विहाय लोकपान् ॥१७॥

श्लोकार्थ- लक्ष्मणा ने कहा कि हे द्रौपदी ! बार-बार नारदजी के गाए हुए भगवान् के जन्म और कर्म सुनकर मेरा मन उन मुकुन्द में आसक्त हो गया, तब अच्छी तरह विचार कर, पद्म को दीप की भाँति हस्त में लेकर देखती हुई सर्व लोकपालों को छोड़कर इनको वर लिया ॥१७॥

सुबोधिनी सा हि स्वविवाहमुत्कृष्टं मन्यते । राधावेधो हि दुर्लक्ष्यो भवति ततोप्यधिकश्चेद्भगवत्कृतोपि भवेत् । ततो भर्तृसख्यं विहाय भगवत्सखी भवेदिति सा प्रथमं स्वमनःप्रीतिमाह । स एव सख्यं प्राप्नोति यस्य जन्मप्रभृति जन्मान्तरेषु वा भगवत्येव चित्तं भवति । हे **राज्ञी**ति सावधानतया श्रवणार्थं संबोधनम् । **अच्युत**त्व भजनीयत्वे मुख्यो हेतुः । **जन्म** भक्तोद्धारार्थमेव । **कर्म** तु भक्तकार्यार्थमेवेति **श्रुत्वा** कुलशीले वा । **मुहुर्नारदगीतमिति** निर्द्धारार्थं प्रमाणावृत्तिरुक्ता । **मुकुन्दे चित्तम सेति** । तदेकप्रवणं जातम् । अच्युतत्वादैहिकसुखदातृत्वं मुकुन्दत्वान्मोक्षदातृत्वमिति । तथापि योगिगम्यः कथं स्त्रीमात्रस्य वरणीयो भवेत् तत्राह **पद्महस्तया किल वृत** इति । पद्मं हस्ते यस्या इति दीपमिव गृहीत्वा सर्वं दृष्ट्वा विचार्य ग्रहणं निरूपितम् । ननु तावता किं त्वयान्यो ग्राह्य इति चेत्तत्राह **विहाय लोकपानि**ति। अन्ये लोकपालाः अप्रयोजकाः सुदुष्टा इति ज्ञापितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ - वह (लक्ष्मणा) अपने विवाह को द्रौपदी आदि के विवाह से उत्तम मानती है । राधावेध (मछली बींधना) दुर्लक्ष्य है उससे भी अधिक यदि हो तो भगवान् का किया हुआ है, उससे भी भर्तारूप से सखाभाव त्याग कर भगवान् की सखी होना श्रेष्ठ जाना इसलिए प्रथम ही भगवान् से अपने मन की प्रीति जोड़ी, यों कहती है कि वह ही सखाभाव को प्राप्त कर सकता है जो पहले जन्म से लेकर सारा जीवन अथवा जिसने अन्य जन्मों में भी भगवान् में चित्त पिरो दिया है । हे रानी ! यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि जो कुछ मै कहती हूं, वह सावधान होकर सुनो, इनके भजन करने में मुख्य कारण यह है, कि आप अच्युत हैं, अतः कभी भी किसी तरह से भी आपकी च्युति नहीं होती है, प्रभु का प्राकट्य भक्तोद्धार के लिए है और कर्म भक्तों के कार्य सिद्ध करने के वास्ते ही हैं तथा कुल एवं शील को बारंबार जो नारदजी गाते हैं उसको सुनकर, मन में इसको प्रमाण रूप सत्य है यों निर्द्धार कर मुकुन्द में मन को आसक्त कर दिया, और यह भी समझा कि अच्युत होने से आप सब प्रकार ऐहिक सुखदाता हैं एवं मुकुन्द होने से मोक्ष देने वाले भी आप ही हैं, अतः इनको वरण करने से दोनों लाभ प्राप्त होंगे, यों है, तो भी जो योगियों को प्राप्त होने वा समझने योग्य हैं उनको स्त्रियां कैसे पा सकेंगी ? अथवा उनका वरणीय कैसे होगा? इसके उत्तर में कहती हैं कि, मैंने दीप की तरह कमल लिया जिसके द्वारा पूर्ण रीति से सब राजाओं को देखा फिर विचार किया, विचार करने से निश्चय किया, कि दूसरे राजा लोकपाल आदि निरर्थक हैं क्योंकि दोषों वाले हैं, ये ही एक निर्दोष हैं, अतः सबका त्याग कर इनका वरण किया ॥१७॥

श्लोक— **ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः ।**
बृहत्सेन इति ख्यातस्तथोपायमचीकरत् ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे साध्वी ! पुत्री-वत्सल मेरे पिता बृहत्सेन ने मेरा इस प्रकार का मत जानकर वैसा उपाय किया, जैसे मुझे श्रीकृष्ण प्राप्त होवे ॥१८॥

सुबोधिनी यत्परं मनस्तस्मै देयमिति स्वयं दाने लज्जा भवतीति साधारणस्वयंवरे च यः कश्चिद्ग्रहीष्यतीति पणबन्धो महान् कर्तव्य इति । **मम पिता मन्मतं ज्ञात्वा दुहितृवत्सलः** यथा भवति **तथोपायं** कृतवानित्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—कन्या का मन जिसमें लगा हुआ हो उसको देनी चाहिए, कन्या स्वयं अपने को देने में तो लज्जा का अनुभव करती है, अतः यदि मैं साधारण प्रकार का स्वयंवर करूंगा तो हर कोई ग्रहण कर सकेगा, इसलिए कोई महान् कठिन शर्त इसमें रखनी चाहिए जिसको श्रीकृष्ण के सिवाय दूसरा कोई पूर्ण न कर सके, यों निश्चय कर पुत्रीवत्सल मेरे पिताजी ने मेरा भाव जान लिया था अतः वैसा उपाय किया ।।१८।।

आभास—तमुपायमाह **यथा स्वयंवर** इति ।

आभासार्थ—उस उपाय को 'यथा स्वयंवरे' श्लोक में बताती है—

श्लोक—यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ।
अयं तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—हे द्रौपदी रानी ! जैसे तुम्हारे स्वयंवर में अर्जुन को देने की इच्छा से मत्स्य किया गया था, वैसे मेरे स्वयंवर में भी मत्स्य किया गया था, परन्तु तुम्हारे स्वयंवर में जो मत्स्य था, वह केवल बाहर ढका हुआ था, इसलिए खम्भे में लगी हुई दृष्टि से वह देखने में आ जाता था, किन्तु यह वैसा नहीं था, यह तो खम्भे के पास रखे हुए कलश के जल में ही दीख सकता था, अतएव दृष्टि नीचे और लक्ष्य ऊपर होने से यह मत्स्य श्रीकृष्णचन्द्र के सिवाय दूसरा कोई वेध नहीं सकता ।।१९।।

सुबोधिनी—**पार्थेप्सया** अर्जुन एव गृह्यात्विति । ततोपि मदीयो विशिष्ट इत्याह **अयं तु बहिराच्छन्न** इति । **स** तु बहिर्दृश्यते **परं जले** । जले तस्य प्रतिच्छाया उपलभ्यत इत्यर्थः । मदीयस्य तु जलेष्युपलम्भो नास्ति । सर्वथा बहिराच्छन्न एव । अतः पार्थस्याप्यगम्यं भविष्यतीति पितुरभिप्रायः । १९।।

व्याख्यार्थ—तुम्हारे स्वयंवर में मत्स्य इसी प्रकार रखा गया था, कि अर्जुन ही उसको वेध सके, मेरे स्वयंवर में मत्स्य उससे विशेष प्रकार से रखा गया था । आपके स्वयंवर वाला मत्स्य, तो बाहर ढका हुआ था, वह तो ढका हुआ (कपड़े में लपेटा हुआ था किन्तु जल में दीखता था, क्योंकि उसकी जल में परछाई पड़ती थी जिससे वह दीख जाता था, मेरे स्वयंवर वाला मत्स्य तो जल में भी नहीं दीखता था, सर्व प्रकार बाहरलपेटा हुआ ही था, अतः उसको अर्जुन भी वेध नहीं सके यह ही मेरे पिता का अभिप्राय था ।।१९।।

आभास—ततः सर्वे बलोन्नद्धाः समागता इत्याह **श्रुत्वैतदिति** ।

आभासार्थ—यह स्वयंवर सुनकर बल से मत्त बड़े २ राजा लोग वहाँ आए यह 'श्रुत्वैतत्सर्वतो' श्लोक से बताती है—

श्लोक—श्रुत्वैतत्सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम् ।
सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः ।।२०।।

श्लोकार्थ—यह बात सुनकर सब अस्त्र तथा शस्त्र के ज्ञाता हजारों राजा लोग अपने-अपने उपाध्यायों को साथ ले, चारों ओर से मेरे पिता के नगर में आए ।२०।

सुबोधिनी—आगमने तेषां बलमाह **सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञा** इति । अस्त्रशस्त्रयोर्वैदिकलौकिकयोः क्षेपाक्षेपरहितयोर्वा तत्त्वं स्वरूपं अत्र स्थित्वा प्रक्षेपे एवं लक्ष्यं भवतीति अस्मिन् वा शस्त्रे योजिते लक्ष्यवेध इति । अकस्माद्विस्मरणे सभाकम्पे वा **सोपाध्यायाः सहस्रश** इति । एकस्य भङ्गे अपरो ग्रहीष्यतीति स्वतस्तेभ्य आदानेपि प्रतिष्ठा न भवतीति ।।२०।।

व्याख्यार्थ—जो आए उनके बल को कहती है कि सर्व प्रकार के वैदिक लौकिक अस्त्र शस्त्र के तत्त्व को जानने वाले थे, जैसा कि, वहाँ खड़ा रहकर फेंकने से इस प्रकार लक्ष्य हो सकेगा, इस शस्त्र को जोड़ने से लक्ष्य का वेध हो जाएगा, अचानक भूल हो जाए वा सभा कम्प हो, तो इसलिए हजारों उपाध्याय साथ लाए थे, उनसे पूछकर कार्य करेंगे, एक के भङ्ग होने पर दूसरा ग्रहण करेगा, यों स्वतः उनको आदान करने पर भी प्रतिष्ठा नहीं होगी ।।२०।।

श्लोक—पित्रा संपूजिताः सर्वे यथावीर्यं यथावयः ।
आददुः सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः ।।२१।।

श्लोकार्थ—पराक्रम तथा आयु के अनुसार सबका मेरे पिता ने सत्कार किया, अनन्तर सभा में रखे हुए सिर सहित धनुष को मत्स्य वेधार्थ लेने लगे; क्योंकि मेरी प्राप्ति का ही उनको ध्यान था कि वेध करने से वह मिलेगी ।।२१।।

सुबोधिनी—समागताः **सर्व** एव **पित्रा संपूजिताः** । परं तारतम्यानुसारेण तत्र तरतमभावे नियामकं **वीर्यं वयश्च** मिलितम् । अन्यथा तदुपाध्यायानामेव पूजनं स्यात् । तत्रैव भगवन्मन्त्राभिमन्त्रितं धनुः शरं च तत्रैव स्थापितं ते **समाददुः** । आदाने हेतुः **वेद्धुम्** । **पर्षदि** सभायाम् । यतो **मद्धिय** इति मत्कामाः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—आए हुए सबकी पिताजी ने पूजा की, वीर्य और आयु के अनुसार, यथायोग्य पूजन किया अर्थात् सबकी समान पूजा नहीं, गुणानुसार पूजा की, यों न करते तो केवल उपाध्यायों का ही पूजन होता वहां सभा में ही वेद मन्त्रों से अभिमन्त्रित धनुष और शर रखा था, वे राजा उनको लेने लगे, लेने का कारण यह था कि वेध करना था, 'पर्षदि' सभा में, क्योंकि मुझे लेने की इच्छा वाले थे ।।२१।।

आभास—ततस्तेषां भङ्गप्रकारमाह **आदाय व्यसृजन्निति** ।

आभासार्थ—पश्चात् उनके भङ्ग होने का प्रकार 'आदाय' श्लोक में कहती है ।

श्लोक—**आदाय व्यसृजन्केचित्सज्जीकर्तुमनीश्वराः ।**
आकोष्ठं ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुना हताः ।।२२।।

श्लोकार्थ—कितने ही राजाओं ने तो धनुष-बाण लेकर छोड़ दिया, कुछ डोरी ही नहीं चढ़ा सके, कुछ राजा ऐसे भी थे, जिन्होंने कोहनी के नीचे भाग तक खींचा तो गिर गए और वह धनुष उनके ऊपर पड़ने से वे मर गए ।।२२।।

सुबोधिनी—तत्र हेतुः **सज्जीकर्तुमनीश्वरा** इति । **केचित्पुनः** वेधमात्रमेव एणीकृतमिति सज्जीकरणमप्रयोजकमिति । अन्यैर्बहुभिर्वा सज्जीकृतमेव धनुः । **आदाय** कोष्ठपर्यन्तं **ज्यामाकृष्य अमुना** धनुषा **हताः** सन्तः पतिताः । कर्णान्तं ज्याकर्षणं कर्तव्यं कोष्ठप्रदेशे तु ज्या तिष्ठत्येव । तस्यैवान्ते समीपे कथंचिदानीतवन्तः तावतैव बलक्षयो जात इति । तथैव पतिताः । तदनन्तरं स्वोपरि पतितेन धनुषा हता इत्यर्थः ।।२२।।

व्याख्यार्थ—कितने ही जो डोरी नहीं चढा सकने थे वे कहने लगे, कि वेध मात्र ही करना है, डोरी चढानी बिना प्रयोजन वाली बात है, दूसरे बहुत से ऐसे थे, जिन्होंने डोरी चढ़ाई किन्तु जब उसको खींच कर कोहनी तक लाए तब बल क्षय हो जाने से गिर पड़े, उसके बाद अपने ऊपर गिरे धनुष से वे मर गए ।।२२।।

आभास—एवमप्रसिद्धानां स्वरूपमुक्त्वा प्रसिद्धानामाह **सज्ज्यं कृत्वेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार अप्रसिद्धों का स्वरूप कहके 'सज्ज्यं' श्लोक से प्रसिद्धों का स्वरूप कहती है—

श्लोक—**सज्ज्यं कृत्वाऽपरे वीरा मागधाम्बष्ठचेदिपाः ।**
भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविदुस्तदवस्थितिम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—दूसरे वीर, मागध, अम्बष्ठ, चेदिय, भीम, दुर्योधन और कर्ण भी वह (मत्स्य) कहाँ है ? इसको न जान सके ।।२३।।

सुबोधिनी—**अपरे** पूर्वोक्तेभ्यः अन्ये । **मागधो** जरासन्धः । **अम्बष्ठो** भगदत्तः हस्तिपत्वात् । **चेदिपः** शिशुपालः तथैव **भीमो दुर्योधनः कर्णश्च** तथापि तस्य मत्स्यस्य **अवस्थितिं न विदुः** क्व तिष्ठतीति ।।२३।।

व्याख्यार्थ—दूसरे, अर्थात् पूर्व जो कहे हैं उनके सिवाय दूसरे, उनका नाम कहते हैं, मागध (जरासन्ध) अम्बष्ठ, (भगदत्त हस्ती के पालक होने से अम्बष्ठ, चेदिय, (शिशुपाल) वैसे ही भीम दुर्योधन तथा कर्ण, इन सबने भी यह न जाना कि मत्स्य की स्थिति कहाँ है ।।२३।।

श्लोक—**मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् ।**
पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणं नाच्छिनत्पस्पृशे परम् ।।२४।।

श्लोकार्थ—अर्जुन ने मत्स्य का जल में प्रतिबिम्ब देख, उसकी वही स्थिति समझ, सावधान हो, बाण चलाया, उस बाण ने उसका स्पर्श किया, किन्तु उसको वेधा नहीं ।।२४।।

सुबोधिनी—ततोर्जुनः आच्छादनसहितस्य **जले** प्रतिबिम्बं दृष्ट्वा जलाभासं तत्र ज्ञात्वा अमुकस्थाने तिष्ठतीति निश्चित्य **यत्तः** सन् **पार्थः बाणमसृजत्** । तावतापि लक्ष्यं **नाच्छिनत्** । **परं पस्पृशे** स्पर्शमेव संपादितवानिति । नरनारायणयोरेतावदन्तरं शक्तिद्वयमेकस्य पूर्णम् । अपरस्यैका कथंचिदिति ।।२४।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् अर्जुन ने आवरण सहित मत्स्य का प्रतिबिम्ब जल में देखकर, अमुक स्थान पर ही यह है यों निश्चय कर सावधान हो बाण छोड़ा, तो भी लक्ष्य को वेधा नहीं केवल स्पर्श ही किया, नर और नारायण में इतना ही अन्तर है, एक नारायण की दोनों शक्तियां ज्ञान और क्रिया पूर्ण हैं, दूसरे नर (अर्जुन) की एक (ज्ञान) भी कथंचित् है ।।२४।।

आभास—एवं साधारणप्रसिद्धातिप्रसिद्धनिराकरणे जाते सर्व एव निवृत्ता इत्याह **राजन्येषु निवृत्तेष्विति** ।

आभासार्थ—यों साधारण प्रसिद्ध और अति प्रसिद्धों का निराकरण होने से सब ही निवृत्त हो गए जिसका वर्णन 'राजन्येषु' श्लोकों से वर्णन करती है—

श्लोक—**राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।**
भगवान्धनुरादाय सज्जं कृत्वाथ लीलया ।।२५।।
तस्मिन्संधाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।
छित्त्वेषुणापातयत्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते ।।२६।।
दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि ।
देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर्षविह्वलाः ।।२७।।

श्लोकार्थ—इस तरह उन अभिमानी क्षत्रियों का मान भङ्ग होते हुए वे सब निवृत्त हो गए, तब श्रीकृष्णचन्द्रजी ने धनुष ले, पनच (धनुष की डोरी) चढ़ा, उसमें लीला से बाण का सन्धान कर मध्याह्न समय अभिजित नक्षत्र के होते, एक बार जल में मत्स्य को देखकर बाण से उसे काट गिरा दिया, उस समय जय-जय शब्द के

साथ स्वर्ग में दुन्दुभि बजने लगी, हर्ष से विह्वल हुए देवता पुष्पों की वर्षा करने लगे ।।२५–२७।।

सुबोधिनी--ततः कृष्णः किं करिष्यतीति शङ्कां वारयितुं **भगवानि**त्याह **लीलया च सज्जं** कृतवान् । अनेनादित आरभ्य स्वयमेव सर्वं कृतवान् न त्वन्यशेषः स्थापित इति ज्ञापितम् । **लीलया** मत्संतोषार्थम् । **तस्मिन् सधाय विशिखमि**ति लौकिकन्यायेनैव मारितवानिति ज्ञापितम् । ततोर्जुनसंतोषार्थं **सकृन्मत्स्यं जले वीक्ष्य इषुणा छित्त्वा** जलेऽपातयत् । तस्मिन्नेव समये **अभिजिल्लग्नं** तेनैव सर्वे दोषाः परिहृता इति लौकिक एव प्रकार उक्तः । ततो भगवता सर्वजोवाशक्यं कृतमिति इदमेकं चरित्रं लोके समुत्पन्नमिति संतोषाद्दिवि **दुन्दुभयो नेदुः जयशब्दाश्च** । भूमावपि नरदुन्दुभयो जयशब्दाश्च । ततो देवानां भगवान् स्वोत्कर्षं प्रकटीकृतवान् । अतः परं दैत्यवधं करिष्यतीति संतोषाद्देवाश्चकारादन्येपि सिद्धादयः **कुसुमासारान् मुमुचुः हर्षेण विह्वलाश्च** जाताः ।।२५–२७।।

व्याख्यार्थ—ऐसे प्रसिद्ध योद्धा क्षत्रिय भी नहीं वेध सके तो कृष्ण क्या करेगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'भगवान्' हैं इसलिए लीला से ही तैयार कर लिया, यों कहने से यह बताया है कि आदि से अन्त तक जो क्रिया करनी होती है वह सब करला कुछ शेष न रखा, जो दूसरा आकर करे, लीला से अर्थात् खेल की तरह जो किया उसका कारण यह था कि मैं प्रसन्न हो जाऊं अन्यथा करते तो मुझे चिन्ता होती, 'तस्मिन् स धाय विशिखं' कहा जिसका तात्पर्य है कि लौकिक न्याय से ही मारा, पश्चात् अर्जुन के सन्तोष के लिए ही एक बार मत्स्य को जल में देख बाण से तोड़कर पानी में गिरा दिया, जिस समय भगवान् ने यह क्रिया की उस समय 'अभिजित्' लग्न था, उसने ही सब दोष नष्ट कर दिए, यों लौकिक प्रकार ही कहा, भगवान् ने वह कार्य किया जो जीव से नहीं हो सकता था, यह एक चरित्र लोक में हुआ तब इससे सन्तुष्ट हो स्वर्ग में दुन्दुभि बजने लगी और जय जय ध्वनि हुई, पृथ्वी पर मनुष्य दुन्दुभि बजाने लगे और जय जय शब्द करने लगे, पश्चात् भगवान् देवों में अपना उत्कर्ष प्रकट करने लगे । इसके बाद भगवान् दैत्यों का वध करेंगे, इस प्रकार संतोष होने से देवता और दूसरे सिद्ध आदि भी पुष्प वर्षा करने लगे, हर्ष से विह्वल हो गए ।।२५-२६-२७।।

आभास - ततः पणः सिद्ध इति मया वृत इत्याह **तद्रङ्गमाविशमहमिति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यों हो जाने से पिता का प्रण सिद्ध हो गया, इसलिए मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को वरण किया यह वृतान्त 'तद्रङ्गमाविषम्' दो श्लोकों में कहती है–

श्लोक—**तद्रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां**
पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् ।
नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाग्र्ये
सव्रीडहासवदना कबरीधृतस्रक् । २८।।

श्लोकार्थ—कनक से मढ़ी हुई उज्ज्वल रत्नों की माला को हाथ में ले, मधुर शब्द ध्वनि करने वाले नूपुरों को धारण कर, नूतन दो पट्ट वस्त्रों में से एक पहन कर और एक को ऊपर से लपेट, केशपाश में फूलमाला बाँधकर, लज्जा और हास्ययुक्त मुख वाली मैं स्वयंवर की सभा में आई ।।२८।।

सुबोधिनी—आत्मानं वर्णयत्येकेन । द्वितीयेन स्वक्रियाम् । विषयाः पञ्चविधाः शब्दादयः पञ्चापि मयि सन्तीति पञ्च विशेषणानि । तादृशी **अहं तद्रङ्गस्थानं** प्रविष्टा यत्र विवाहोत्सवः । **कलनूपुराभ्यामि**ति सशब्दान्याभरणानि निरूपितानि, एतादृश**पद्भ्या**मुपलक्षिता । **कनकोज्ज्वलरत्नमालामि**ति रूपसंपत्तिर्निरूपिता । सा माला भगवतः कण्ठे देयेति स्वतुल्यतां निरूपयन्ती स्वस्यैव रूपातिशयं निरूपयति । ततः **कौशिकाग्र्ये** पट्टवस्त्रद्वयम्,एकं **निवीयो**परि धृत्वा, अपरं **परिधाय**, **च**कारात् कञ्चुकवदपि कृत्वा, अनेन स्पर्शोत्कर्षो निरूपितः । **सव्रीडहासवदनेति** रसः । **व्रीडा** आन्तरभावसूचिका । **हासो** बहिर्मोहजनकरूपः । **कबर्यां धृताः स्रजो** ययेति गन्धः ।।२८।।

व्याख्यार्थ—इस एक श्लोक से अपना वर्णन करती है, दूसरे निम्न श्लोक से अपनी क्रिया कहेगी, शब्द आदि पांच विषय हैं, वे पाँच ही मुझमें हैं, इसलिए पांच विशेषण दिए हैं, जहां विवाह का उत्सव हो रहा था उस रङ्ग स्थान में मैंने प्रवेश किया । किस तरह और किस रूप में जिसका वर्णन करती है, मधुर झंकार करने वाले नूपरों को धारण किया था, इससे यह सूचन किया कि मैंने जो आभरण धारण किए थे वे मूक नहीं थे किन्तु मधुर ध्वनि करते थे, ऐसे आभरणों से युक्त मेरे चरण थे, जिनसे मेरी पहचान हो जाती थी । अपने रूप की सम्पत्ति दिखाते हुए कहती है कि मैंने कनक (सोने) से मढी हुई उज्जवल रत्नों की माला हस्त में ले ली थी, वह माला भगवान् के कण्ठ में डालनी थी, अपनी समानता दिखाती हुई अपने रूप की विशेषता निरूपण करती है, दो रेशमी वस्त्र एक शरीर पर पहना था और दूसरा उसके ऊपर लपेटा हुआ था, 'च' पद से यह भाव भी निकलता है कि वस्त्रों को कञ्चुकवत् भी कर लिया हो, इससे स्पर्श का उत्कर्ष कहा है । अब रस को प्रकट करने के लिए लज्जा तथा हास्य वाले मुख वाली मैंने लज्जा से भीतर के भाव को सूचित किया, हास से बाहर मोह को पैदा किया, और केशपाश में पुष्पमाला धारण की थी । ऐसी बनकर ही मैं सभा मण्डप में आई थी ।।२८।।

श्लोक—**उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विड्-**
गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः ।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ।।२९।।

श्लोकार्थ—केश-भार व कुण्डलों की कान्ति से चमकते हुए कपोलों वाले मुख को ऊपर उठाकर, सर्व ताप को हरने वाले हासयुक्त कटाक्षों के विलासों से चारों ओर

धीरे-धीरे राजाओं को देखकर, श्रीकृष्ण में ही अनुरक्त चित्त वाली मैंने अपनी माला मुरारी के गले में डाली ।।२९।।

सुबोधिनी—एवं सर्वगुणपूर्णा **मुरारेरंसे स्वमालां निदधे**। अग्रे रसशङ्काव्यावृत्त्यर्थं राज्ञां निरीक्षणं कृतवती **वक्त्रमुन्नीय**। वक्त्रस्योन्नयने हेतुः **उरुकुन्तलकुण्डलत्विड्गण्डस्थलमिति**। **उरुकुन्तला** यस्मिन्मुखे, तेन कुन्तलानां प्रतिबन्धव्यावृत्त्यर्थमुन्नयनम्। **कुण्डलत्विड्युक्तगण्डस्थलमिति** समदर्शने विद्युताहते इव नेत्रे कुण्डलकान्त्याघाताद् विषयदर्शने न समर्थे। अनेन प्रदर्शनार्थं मुखवर्णनापि कृता। किञ्च। यथा तेषां प्रतिघातकत्वं न भवति तथा दृष्ट्वती तदर्थमाह **शिशिरहासकटाक्षमोक्षैरिति**। **शिशिरः** सर्वतापहारी यो **हास**. उत्पन्न एव सर्वाह्लादकरः तत्सहिता ये **कटाक्षमोक्षाः** एकेन वशीकरणमपरेण हननमिति। आदौ दर्शनं न दोषाय। सर्वानेव **राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्दृष्टिं प्रसारयन्ती** तत्र भगवन्तं दृष्ट्वा तस्य **मुरारेरंसे अनुरक्तहृदया** सती मनोमालां दत्त्वा **स्वमालां** स्वप्रतिकृतिरूपां रत्नमालां च **अंसे निदधे** ।।२९।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सब गुणों से पूर्ण ने मुरारी के गले में अपनी माला डाली, रस की शङ्का को मिटाने के लिए राजाओं को मुख उठाके देखने लगी, मुख उठाने का यह कारण था, कि मुख केश से ढका हुआ था उनको दूर करने के लिए मुख को ऊपर किया जिससे देखने का प्रतिबन्ध मिट गया, जैसे विद्युत सामने आवे तो नेत्र में चका चोंध होने से देखा नहीं जाता है, वैसे ही कुण्डलों की कान्ति से चमक रहे कपोलों के कारण भी नेत्र, उनको देखने में समर्थ न थे, इसलिए देख सके, तदर्थ मुख ऊपर उठाना और उनके नेत्रों के लक्षण कहे हैं कि 'शिशिरहास कटाक्ष मोक्षैः' सर्व के ताप को हरण करने वाला अथवा सर्व प्रकार के तापों को हरण करने वाला जो हास, उत्पन्न होते ही सर्वाह्लादकारी है, उस सहित जो कटाक्षों के मोक्ष, एक से वशीकरण और दूसरे से घायल करना, आदि क्रिया करती हुई, वरण से प्रथम अन्यों को देखना दोष नहीं है, सब ही राजाओं को देखती हुई चारों ओर धीरे धीरे दृष्टि फेंकती थी, जिससे वहां भगवान् के दर्शन हुए, दर्शन होते ही उस मुरारि के गले में, अनुरक्त हृदय वाली होते हुए मन रूप माला देकर, अपनी प्रति कृति रूप रत्नमाला डाली ।।२९।।

आभास – तन्मम वरणं सर्वसंमतं जातमिति ज्ञापयितुं तदानीमुत्सववाद्यान्याह **तावन्मृदङ्गपटहा** इति।

आभासार्थ—वह मेरा वरण सर्व संमत हुआ, यह जताने के लिए उस समय उत्सव और वाद्य हुआ वह तावन्मृदङ्गपटहा' श्लोक में कहती है—

श्लोक—**तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्यानकादयः।**
निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः ।।३०।।

श्लोकार्थ – इतने में मृदङ्ग, पटह, शङ्ख, भेरी और आनक आदि बजने लगे, नट और नटनियाँ नाचने लगीं, गाने वाले गान करने लगे ।।३०।।

सुबोधिनी — पञ्चैतानि मङ्गलवाद्यानि नित्यानि। गीतवाद्यनृत्यानि वक्तव्यानीति वाद्यान्युक्त्वा नृत्यमाह **नटनर्तक्यो ननृतु**रिति। गानं चाह **गायकाश्च जगु**रिति ।।३०।।

व्याख्यार्थ—ये पांच मङ्गल वाद्य नित्य हैं, उत्सव में गीत, वाद्य नृत्य ये तीन कहने चाहिए, वाद्यों को कहकर नृत्य कहती है, कि नट और नटनियाँ नाचने लगी और गान कहती है कि गाने वाले गान करने लगे। ३९।।

आभास—ततो यज्ञातं तदाह **एवं वृते भगवतो**ति।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'एवं वृते' श्लोक में कहती है–

श्लोक—**एवं वृते भगवति मयेशे नृपयूथपाः।**
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धिनो हृच्छयार्दिताः ।।३१।।

श्लोकार्थ हे द्रौपदी ! इस प्रकार जब मैंने ईश भगवान् का वरण किया, तब ईर्षालु और काम से पीड़ित राजगण इसको न सह सके ।।३१।।

सुबोधिनी—भगवत्त्वात्सर्वसंपत्तिः ईशत्वादावश्यकः। अन्ये **नृपयूथपा** इति नृपाणां यूथपत्वं शूकरत्वं निरूपितम्। एकचरो हि सिंहः। यूथचरास्त इति तेषां वध्यत्वं निरूपितम्। ततो **न सेहिरे**। अनेन तेषामन्तःकरणदोषो निरूपितः। **याज्ञसेनी**ति विश्वासार्थं संबोधनम्। यज्ञरूपा सेना यस्य स यज्ञसेनः तस्य कन्या याज्ञसेनी। यज्ञादेवोत्पन्नेति। यतः **स्पर्धिनः** भगवता सह स्पर्धायुक्ताः। मदर्थं **हृच्छयेन** कामेनार्दिताः। एवमन्यकृतो दोषः स्वभावकृतश्च **निरुक्तः** ।।३१।।

व्याख्यार्थ—भगवान् पने से सर्व सम्पत्ति रूप हैं, ईशपन से अवश्य वरण योग्य हैं। दूसरे राजा लोग तो शूकर सम थे, अकेला फिरने वाला ही सिंह है, जो यूथ बनाकर साथ में फिरते हैं, वैसे राजा तो मारने योग्य हैं यों निरूपण किया। शूकर सम होने से ही, मेरे वरण कार्य को सहन न कर सके। यों कहने से, उनके अन्तःकरण के दोष का निरूपण किया, 'याज्ञसेनी' संबोधन विश्वास करने के लिए ही दिया है यज्ञ रूप है सेना जिसकी, वह यज्ञसेन उसकी कन्या याज्ञसेनी, हे द्रौपदी इस यज्ञ से ही उत्पन्न हुई है, इसे भगवान् ले जाते हैं जिससे भगवान् से वे राजा ईर्षा करने लगे, मेरे लिए काम से पीड़ित होते थे, इस प्रकार दूसरों का दोष स्वभाव कृत है यों कहा ।।३१।।

आभास—ततो भगवता यत्कृतं तदाह **मां तावद्रथमारोप्येति**।

आभासार्थ—अनन्तर भगवान् ने जो किया वह 'मां तावत्' श्लोक में कहती है–

श्लोक—**मां तावद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम्।**
शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः ।।३२।।

श्लोकार्थ—भगवान् तो उसी क्षण रत्न रूप चार घोड़ों वाले रथ में मुझे बिठा

कर चारभुजा वाले भगवान् शार्ङ्ग धनुष ले, कवच (बख्तर) पहनकर लड़ाई के लिए तैयार हो गए ।।३२।।

सुबोधिनी– तावता कथं निस्तार इति शङ्कां वारयितुमाह **हयरत्नचतुष्टयमिति** ।
'स्यमन्तकः कौस्तुभश्च स्पर्शश्चिन्तामणिस्तथा ।
चत्वारो मणयः प्रोक्तास्तत्तुल्याः कृष्णवाजिनः'।।
ततः **शार्ङ्गमुद्यम्य** कवचेन **सन्नद्धः आजौ** संग्रामे **चतुर्भुजः** सन् **तस्थौ** ।
'साधनस्य च रक्षायाः क्रियायाः सर्वरूपतः ।
कालस्यापि स्वचेष्टायाः परिग्रह इहोदितः' ॥३२॥

व्याख्यार्थ—ऐसी अवस्था में छुटकारा कैसे हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिए जैसे स्यमन्तक, कौस्तुभ, स्पर्श और चिन्तामणि ये चार उत्तम रत्न हैं वैसे ही भगवान् के चार अश्व समस्त घोड़ों में, रत्न समान उत्तम थे उन घोड़ों से युक्त रथ में मुझे बिठाकर, पश्चात् भगवान् शार्ङ्ग धनुष ले कवच धारण कर, चतुर्भुज हो, लड़ाई में लड़ने के लिए तैयार हुए ।

यहाँ साधन[1] रक्षा, क्रिया, अपनी चेष्टा रूप काल का भी सर्व रूप से भगवान् ने ग्रहण किया यह बताया है ।।३२।।

आभास—बिभीषिकार्थमेतत्परिगृहीतवान् न तु तेषां मारणार्थं तथा सति भूम्यर्थं मारणं न स्यात् । अत एव दारुकेण भगवत्प्रेरितेन रथो द्वारकायामेवे नीत इत्याह **दारुकश्चोदयामासेति** ।

आभासार्थ—भगवान् ने शार्ङ्ग का ग्रहण राजाओं को डराने के लिए ही किया, न कि उनके वध के लिए, वैसा होने पर भूमि के लिए मारना नहीं हो, अतएव भगवान् की प्रेरणा से दारुक रथ को द्वारका ले चला, यह निम्न श्लोक में कहा–

श्लोक—**दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम् ।**
मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव ।।३३।।

श्लोकार्थ—हे रानी द्रौपदी ! दारुक सारथी ने सुवर्ण से मँढ़े रथ को चलाया, तब जैसे हिरणों के देखते हुए सिंह चला जावे, वैसे ही भगवान् राजाओं के देखते हुए चले गए ।।३३।।

सुबोधिनी — **काञ्चनोपस्करत्वेन** लघुता शीघ्रगमने बन्धनाभावश्च सूचितः । **मिषतां भूभुजामिति** तेषामपि क्रियाशक्तिः भगवतैव चतुर्भुजत्वेन स्वीकृतेति ज्ञानशक्तिरेवावशिष्टेति । **राज्ञीति** परिज्ञानार्थम् । किञ्च । ते रूपाद्याश्चर्यैणैव व्यामोहिता इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **मृगाणां मिषतामेव** सतां यथा **मृगराड्** हरतीति। ॥३३॥

१– असि, चर्म, बाण और धनुष ये चार क्रम से कहे हैं,

व्याख्यार्थ—सुवर्ण में मँढे होने के कारण हलका था, जिससे शीघ्र चलने में कोई रुकावट न होना, सूचित किया, राजा देखते तथा भौंकते ही रहे. इससे उनकी भी क्रिया शक्ति कही, भगवान् ने चतुर्भुज धारण कर स्वीकृत ज्ञान शक्ति ही शेष रही, राज्ञी ! यह सम्बोधन पूरी तरह समझने के लिए दिया है और विशेष, वे रूपादि देख आश्चर्य से ही मोहित हो रहे थे, वह समझाने के लिए दृष्टान्त देती है कि जैसे हिरनों को देखते ही सिंह अपना भाग ले जाता है, वैसे ही भगवान् अपना भाग मुझको ले चले ।।३३।।

आभास—ये तु दूरे स्थिताः दर्शनानन्दं न प्राप्तवन्तः ते केचित् समागता इत्याह **तेऽन्वसज्जन्तेति** ।

आभासार्थ जो लोग दूर खड़े होने से दर्शन का आनन्द न ले सके, वे कितने ही आए, यों 'तेऽन्वसज्जन्त' श्लोक में कहती है–

श्लोक—**तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन ।**
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम् ।।३४।।

श्लोकार्थ—कितने ही राजा धनुष लेकर तैयार हो, जैसे सिंह को कुत्ते भौं-भौं करते हुए रोकने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं, वैसे वे राजा भी मार्ग में भगवान् को रोकने के लिए आगे आकर व्यर्थ चेष्टा करने लगे ।।३४।।

सुबोधिनी – **केचन** मूर्खाः दूरे स्थिताः **अन्वसज्जन्त** भगवन्तमन्वसज्जन्त । पथि नयननिषेधं कर्तुं **पथि** भ्रान्ताः । **संयत्ताः** सावधानाः । **उद्धृतेष्वासाः** धनूंषि विस्फूर्ज्य । अनेन भगवत्तुल्यता सामग्र्या निरूपिता । तथापि शब्दमात्रता तेषु । अर्थस्तु भगवत्येवेति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **ग्रामसिंहा** इति । सिंहवाच्यतुल्यत्वेपि यथा ग्रामसिंहसिंहयोरन्तरम् ।।३४।।

व्याख्यार्थ—कितने ही मूर्ख दूर खड़े होकर भगवान् को मार्ग में कहने लगे, कि इसको मत ले जाओ, यों कहते हुए रास्ते में भ्रमण करते थे, सावधान थे, अतः धनुष तैयार कर लिए थे, इससे यह बताया कि जैसे भगवान् ने युद्ध के लिए धनुष लिया था वैसे ये भी युद्ध सामग्री धनुषादि लेकर तैयार थे, यों होते हुए भी इन्होंमें केवल बकवाद करने की ही शक्ति थी वास्तविकता भगवान् में ही है, यों जताने के लिए, दृष्टान्त दिया है. सिंह नाम की बराबरी होते हुए भी जैसे ग्रामसिंह (कुत्ता) और सिंह (शेर) में भेद है वैसे ही यहां भी अन्तर है ।।३४।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैरिति** ।

आभासार्थ – पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'ते शार्ङ्गच्युत' श्लोक से कहा है–

श्लोक—**ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रिकंधराः ।**
निपेतुः प्रधने केचिदेके संत्यज्य दुद्रुवुः ।।३५।।

श्लोकार्थ—शार्ङ्ग धनुष से निकले हुए बाणों से उनके हाथ, पाँव और गर्दनें कट गईं, तब कितने ही रण को छोड़ भाग गए ।।३५।।

सुबोधिनी—एकोपि **शार्ङ्गे** योजितः तस्माच् **च्युतश्च** द्बाणौघतामापद्यते । अत एकेनैव बाणेन **कृत्तबाह्वङ्घ्रिकंधराः** धोढा छिन्ना भवन्ति । ततः **प्रधने निपेतुः** । **एके तु संत्यज्य दुद्रुवुरिति** । प्राणमानयोश्छेदो निरूपितः ।।३५।।

व्याख्यार्थ—शार्ङ्ग धनुष पर चढाया हुआ एक भी बाण जब उससे छूटता है तब बाणों का समूह बन जाता है, अतः एक ही बाण से बाहु, चरण और गर्दनों के कई प्रकार टुकड़े हो गए और वे रणभूमि में आकर गिरे कितने ही रणभूमि छोड़ भाग गए, इस प्रकार प्राण और मान दोनों का छेद (नाश) बताया ।।३५।।

आभास—ततः सभार्यस्य द्वारकाप्रवेशमाह **ततः पुरीमिति** ।

आभासार्थ—बाद में 'ततः पुरीं' श्लोक से स्त्री सहित द्वारका में प्रवेश कहा–

श्लोक— **ततः पुरीं यदुपतिरत्यलंकृतां**
रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम् ।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां
समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम् ।।३६।।

श्लोकार्थ सूर्य को आच्छादन करने वाली, ध्वजा वाली और विचित्र तोरणों से अति अलंकृत, पृथ्वी और स्वर्ग में प्रशंसित हुई द्वारकापुरी में भगवान् ने यों प्रवेश किया, जैसे सूर्य सायंकाल को अपने गृह अस्ताचल में प्रवेश करता है ।।३६।।

सुबोधिनी—अयं विवाहः सर्वसंमत इति ज्ञापयितुं ततः यदुपुर्यामुत्सवो निरूप्यते । आदौ सर्वैव **पुरी अत्यलंकृता** । **रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणा** रविमपि छादयन्तीति ध्वजपटाश्चित्रतोरणानि च उपरि मध्ये च शोभा निरूपिता । अलंकरणं त्वधः लेपादिना । **कुशस्थलीमिति** स्थानस्य सर्वाभेद्यत्वं निरूपितम् । दैत्यसंबन्धेन निन्दितत्वमाशङ्क्याह **दिवि भुवि चाभिसंस्तुतामिति** । गुप्ततया प्रवेश वारयति **तरणिरिवेति** । ।।३६।।

व्याख्यार्थ यह मेरा विवाह सर्व सम्मत था, यह जताने के लिए, यदुपुरी में जो उत्सव हुआ उसका निरूपण करती है, पहले तो समग्र द्वारकापुरी अति अलंकृत की गई थी, उसमें जो बड़ी बड़ी ध्वजाएं लगाई गई थीं वे सूर्य का भी आच्छादन कर रही थी तथा विचित्र अनेक तोरण लगाए गए थे, यों कहने से ऊपर और मध्य को शोभा का वर्णन किया, नीचे के भाग को भी लेपन आदि से अलंकृत किया था, द्वारका का नाम 'कुशस्थली' कह कर यह समझाया है कि यह ऐसा स्थान है जिसको कोई तोड़े नहीं सकता है, दैत्य के सम्बन्ध से तो निन्दित है, इस शङ्का को

मिटाने के लिए कहा है कि 'दिवि भुवि चाभिसंस्तुता' स्वर्ग तथा पृथ्वी, दोनों में चारों ओर प्रशंसित हुई है, छिपकर उसमें प्रवेश नहीं किया किन्तु सूर्य की तरह सबके देखते हुए प्रविष्ट हुए ।।३६।।

आभास—एवं स्वस्यान्तर्निर्वाहमुक्त्वा तत्र गत्वा पिता सर्वमेव विवाहयोग्यं कृतवानित्याह **पिता मे पूजयामासेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार अपने विवाह का गृह पहुंचने तक का समाचार कह कर, वहां जाकर पिता ने विवाह के योग्य जो था वह सब कार्य किया, यह 'पिता मे' श्लोक से कहते हैं–

श्लोक—**पिता मे पूजयामास सुहृत्संबन्धिबान्धवान् ।**
महार्हवासोलङ्कारैः शय्यासनपरिच्छदैः ।।३७।।

श्लोकार्थ मेरे पिता ने अमूल्य वस्त्र, अलङ्कार, शय्या, आसन और अन्य उपकरणों से मित्र, सम्बन्धी व बान्धवों का सत्कार किया ।।३७।।

सुबोधिनी—**सुहृदादयो** भगवदीयाः । **महार्हा** अमूल्याः **वासः**प्रभृतयः । **शय्या आसनानि परिच्छदाश्च** गृहोपकरणानि ।।३७।।

व्याख्यार्थ—मित्र आदि सब भगवदीय थे, उनको अमूल्य वस्त्र आदि, शय्या, आसन और आभूषण आदि सामग्री अर्थात् गृह के योग्य बर्तन आदि सर्व दिए ।।३७।।

आभास—ततः पारिबर्हदानमाह **दासीभिरिति** ।

आभासार्थ—इसके बाद दहेज दिया जिसका वर्णन 'दासीभिः' श्लोक में करती है–

श्लोक—**दासीभिः सर्वसंपद्भिर्भटेभरथवाजिभिः ।**
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः ।।३८।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं पूर्ण हैं, उनको किसी प्रकार की कमी नहीं है, तो भी अपनी भक्ति दिखाने के लिए सर्व प्रकार के आभूषणों से सजी हुई दासियाँ, सकल सम्पदा, योद्धा, हाथी, रथ, घोड़े और सर्व प्रकार के आयुध मेरे पिता ने श्रीकृष्ण को अर्पण किए ।।३८।।

सुबोधिनी—**सर्वाः संपदो** यासु वस्त्राभरणरूपाद्याः । भगवदर्थमेव वा अन्याः संपदः । तथा **भटेभरथवाजिनश्च** सेनाङ्गानि । अमूल्यान्या-**युधानि** च दत्तवान् । तत्र प्रयोजनमाह **भक्तित** इति । हेत्वन्तरं वारयति **पूर्णस्येति** ।।३८।।

व्याख्यार्थ—वस्त्र आभरण आदि सर्व सम्पदाओं से युक्त दासियाँ, इनके सिवाय दूसरी सम्पदा भगवान् के लिए ही थी, योधा, हस्ति, रथ, घोड़े ये सेना के अङ्ग हैं, और अमूल्य आयुध भी दिए, क्यों दिए ? भक्ति के कारण दिए कारण कि वे पूर्ण हैं इसलिए भक्ति के सिवाय कोई दूसरा हेतु नहीं वे तो पूर्ण हैं उनको किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है ।।३८।।

आभास—कामनामाह **आत्मारामस्येति** ।

आभासार्थ—'आत्मारामस्य' श्लोक से 'कामना' कही है—

श्लोक—**आत्मारामस्य तस्येमा वयं च गृहदासिकाः ।**
सर्वसंगनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ।।३९।।

श्लोकार्थ—ये सब हम सर्व सङ्ग से निवृत्त हो, तप के प्रभाव से इन आत्माराम साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र के घर की दासियाँ बनी हैं ।।३९।।

सुबोधिनी—सर्वाभिर्दास्यमुक्तं नोपपत्तिरिति स्वयमुपपत्तिं चाह आनीताः परं सर्वाः रमयति च । स्वयं त्वात्मन्येव रमते । अस्मिन्नर्थे प्रमाणं प्रसिद्धिस्तस्येति । **इमा** रुक्मिण्याद्याः । **वयमिति** मुख्यतया निरूपिताः **च**कारादन्याश्च । सर्वा एव **गृहदासिकाः** भगवदर्थेनोपयुज्यन्त इति । इदमप्यत्यन्तदुर्लभमित्याह **सर्वसङ्गनिवृत्त्येति** । पूर्वजन्मनि सर्वसङ्गनिवृत्तिं कृत्वा **तपश्च** कृत्वा इमामवस्थां प्राप्ता इत्यर्थः ।।३९।।

व्याख्यार्थ—सबने दासीपन कहा किन्तु उसका हेतु देकर उसको सिद्ध नहीं किया, अतः स्वयं उपपत्ति देती है, सब लाई हुई हैं पर सर्व को रमाते हैं, स्वयं तो आत्मा में ही रमण करते हैं, 'तस्य' पद कहने से यह बताया है कि, वे आत्मा में ही रमते हैं यह प्रसिद्ध ही है 'रमाः' पद से रुक्मिणी आदि का कथन किया है. वयं' पद से अपनी मुख्यता निरूपण की है, 'च' पद से दूसरियों का भी निर्देश किया है सब हम गृहदासियाँ भगवान् के गृह कार्य आदि के लिए ही जन्मी हैं यों होना भी अत्यन्त दुर्लभ है किन्तु हमको यह लाभ मिला है जिसका कारण है कि हम सब ने पूर्व जन्म में सर्व सङ्ग का त्याग कर, इसकी प्राप्ति के लिए तप किया है, जिसका यह फल है ।।३९।।

आभास—महिष्यः एकभावापन्नाः रोहिणीप्रमुखाः स्ववृत्तान्तमाहुः **भौमं निहत्येति** ।

आभासार्थ—सर्व रानियां एक भाव को प्राप्त होकर प्रमुख रोहिणी अपना वृत्तान्त 'भौमं निहत्य' श्लोक में कहती है-

श्लोक—महिष्य ऊचुः—**भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा**
ज्ञात्वाथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः ।

निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः
पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः ।।४०।।

श्लोकार्थ—रानियाँ कहने लगीं कि नरकासुर ने दिग्विजय में जिन हम राजकन्याओं को जीत रोक रखा था, उन्हें भवसागर से छुड़ाने वाले प्रभु (आप) के चरणारविन्द का स्मरण करती हुई जानकर श्रीकृष्ण भगवान् ने स्वयं पूर्ण काम होते हुए भी समर में नरकासुर और उसके परिवार को मार हमारा पाणिग्रहण किया ।।४०।।

सुबोधिनी—**सगणं** सेवकसहितं तद्रक्षकदेवसहित वा । **युधीति** न चौर्यादिना तद्वधः । ततः **तेन रुद्धा नः** अस्मान् **ज्ञात्वा निर्मुच्य पादाम्बुजं स्मरन्तीः परिणिनायेति** संबन्धः । अथ भिन्नप्रक्रमेण **निर्मुच्येति** संसाराद्देहात् चिन्तातश्च मोचनं निरूपितम् । तासां निरोधहेतुमाह **क्षितिजये ये जिता राजानस्तेषां कन्या** इति । भगवतो देहेन निर्मोचने किमाश्चर्यम् । यस्य **पादाम्बुजं संसृतिविमोक्षं** संसृतेरपि मोक्षो यस्मादिति चेद्वयं स्मरामः तदास्माकं का चिन्तेति साधनं निरूपितम् । अत एव **परिणिनाय** । स्वार्थतां वारयन्ति **य आप्तकाम** इति ।।४०।।

व्याख्यार्थ—'सगणं' सेवक सहित अथवा उसके रक्षक देवसमेत लड़ाई में मारा न कि छिप कर वध किया, पश्चात् उसने हमको रोक रखा है, यह जान, कि हम आपके चरणारविन्दों का स्मरण कर रही हैं अतः वहाँ से छुड़ाकर पाणिग्रहण किया 'अथ' पद से 'निर्मुच्य' पद का भावार्थ दूसरी तरह का प्रकट करते हैं कि संसार से अर्थात् देह से और चिन्ता से छुड़ाकर पाणिग्रहण किया । उनके निरोध का हेतु कहती हैं, पृथ्वी को जीतने के समय जिन राजाओं को जीता उनकी हम कन्याएँ हैं, इसलिए हमको बन्धन में डाल सका, भगवान् देह से छुड़ावें इसमें क्या आश्चर्य है ? जिनका चरणारविन्द इस संसार से छुड़ाकर मोक्ष दे सकता है, जब हम उसका स्मरण कर रही थी तो हमको काहे की चिन्ता ? इस प्रकार छूटने का साधन कहा अतएव पाणिग्रहण हुआ, इसमें भगवान् का स्वार्थ होगा जिसका निवारण करती हैं कि वे तो पूर्ण काम हैं अतः उनका कोई स्वार्थ नहीं है ।।४०।।

आभास—स्वस्य कामनामाहुस्त्रिभिः **न वयमिति** ।

आभासार्थ—अपनी कामनाओं को 'न वयं' से लेकर तीन श्लोकों से निरूपण करती हैं—

श्लोक—**न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत ।**
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ।।४१।।

श्लोकार्थ—हे साध्वी ! हम न तो चक्रवर्तीपन की, आत्मारामपन की, सायुज्य की, ब्रह्माण्ड के आधिपत्य की वा मोक्ष की इच्छा करती हैं, इनको छोड़कर अन्य किसी भोग की इच्छा नहीं है ।।४१।।

सुबोधिनी हे **साध्वी**ति संबोधनं मात्सर्य-कटाक्षाभावाय। **साम्राज्यं** सार्वभौमम्। **स्वाराज्यमा**त्मारामता, अनेन सर्वदुःखाभावो निरूपितः। **अपी**ति सर्वभोगा विद्यादयोपि संगृहीताः। **उत पुनर्भोज्यं** इदानीं तु भगवता सह भोज्यं कामयामह एव। **वैराज्यं** ब्रह्माण्डरूपत्वम्। **पारमेष्ठ्यं** ब्रह्माण्डाधिपत्यम्। **वे**त्यनादरे। **आनन्त्यं** मोक्षः। **हरेः पदं** सायुज्यादि ॥४१॥

व्याख्यार्थ—हे साध्वी ! द्रौपदी को इस सम्बोधन से यह सूचित किया है कि मात्सर्य वा कटाक्ष से हम नहीं कहती हैं, चक्रवर्तीपन, आत्मारामता, इससे सर्व दुःख का अभाव निरूपण किया, अपि शब्द से सर्व प्रकार के भोग, विद्या आदि भी कहे अब तो भगवान् के साथ ही भोज्य को कामना है, ब्रह्माण्ड के आधिपत्य की और ब्रह्माण्डरूपपन की कामना नहीं है, 'वा' अनादर अर्थ में दिया है अतः मोक्ष सायुज्यादि में भी आदर नहीं है ॥४१॥

आभास—एवं लोकसिद्धानि फलान्यनूद्य निषेधन्ति **कामयामह** इति।

आभासार्थ—इसी प्रकार लोक प्रसिद्ध कामनाओं को कहकर, वे नहीं चाहिए यों 'कामयामह' श्लोक में कहती हैं—

श्लोक—**कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।**
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥४२॥

श्लोकार्थ—किन्तु हम तो लक्ष्मी के कुच-कुंकुम की सुगन्धी वाले इन भगवान् गदाधारी के सर्वोत्तम चरण रज को मस्तक पर धारण करना चाहती हैं ॥४२॥

सुबोधिनी—पूर्वोक्तान् न कामयामहे। अग्रिमं तु **कामयामहे**। तत्किमित्याकाङ्क्षायामाह **एतस्य** भगवतः **श्रीयुक्तचरणरजः**। तद्रजो वर्णयन्ति **श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यमि**ति। तर्हि यथा श्रीः स्ववक्षसि चरणस्थापनं कामयते एवं किं भवतीभिरपीति चेत् तत्राह **मूर्ध्ना वोढुमि**ति। नन्वेतदसंगतं प्रतिभाति चरणश्चेन्मूर्ध्नि तिष्ठति तदा तद्रजो निरन्तरं तिष्ठति। स विषमे कथं तिष्ठेदित्याशङ्क्याह **गदाभृत** इति। अस्मासु चेत्किंचिन्न कर्तव्यं तदा गदामवलम्ब्य स्थास्यति। इतरथा गदया समं करिष्यतीति वा भावः। स हि कठिनेपि तिष्ठतीति ज्ञापनार्थं वा यथा ब्रह्मशिलायां स्थितः ॥४२॥

व्याख्यार्थ—उपर कहे हुए सबको हम नहीं चाहती हैं, आगे जो कहनी हूं उनको चाहती हैं, वह क्या चाहती हो इस आकांक्षा में कहती है कि हम इन भगवान् की लक्ष्मी युक्त चरण रज को चाहती हैं, उस रज का वर्णन करती हैं कि वह रज, लक्ष्मीजी के कुच की जो केसर है उसकी गन्ध से युक्त है अतः उसको हम चाहती हैं। तो क्या जैसे लक्ष्मी अपनी छाती पर, चरण स्थापना की कामना करती हैं, वैसे ही क्या आप भी चाहती हैं ? जिसके उत्तर में कहती हैं कि हम तो इस रज को मस्तक पर धारण करना चाहती हैं, यह आपकी मांग, असंगत भासती है, क्योंकि यदि चरण मस्तक पर रहे तो उसको रज सदैव मस्तक पर रहेगी वह विषम स्थान पर कैसे स्थित रहेगी ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहती हैं कि 'गदाभृत' उसको मस्तक पर धरो

रहने के लिए हम कुछ न कर सकेंगे, तो भी स्वामी आप गदा लेकर खड़े रहेंगे, अन्य प्रकार गदा से सम कर देंगे, यों भाव है वह कठिन स्थान पर भी स्थित रहते हैं, जैसे ब्रह्मशिला पर स्थित है ॥४२॥

आभास—ननु कामनाश्चेत्यक्तव्याः सर्वा एव त्यक्तव्याः किं रजःकामनया इत्याशङ्क्याह **व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ती**ति।

आभासार्थ—यदि कामनाओं का त्याग किया है तो सब का त्याग करो रज को कामना से क्या ? इस शङ्का का उत्तर 'व्रजस्त्रियो' श्लोक में देती है—

श्लोक—**व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः।**
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥४३॥

श्लोकार्थ—जैसे गौ चराते हुए गोप भगवान् के पाद स्पर्श को, गोपियाँ, भीलनियाँ, तृण और लताएँ उनकी चरण रज को चाहती हैं, वैसे ही हम भी उसे चाहती हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—तदेव सर्वोत्तममिति ज्ञातव्यं यं नीचोपि लोकः प्रसिद्धं परित्यज्य चेद्वाञ्छति। यथात्यन्तं क्षुधितः प्राप्तमपि भोजनं परित्यज्य यद्यन्यद्वाञ्छेत् तदा तद्भोजनादुत्तममित्यध्यवसेयम्। तृप्तश्चेद्वाञ्छति तदा नैवमतो नीचान्नोचमेव दृष्टान्तीकुर्वन्ति। **व्रजस्त्रियो** हि लोकोत्कृष्टं न दृष्टवत्य इति कदाचिदैन्द्रपदं वाञ्छेयुः तेपि चेत्तत्परित्यज्य रज एव **वाञ्छन्ति**। ततः **पुलिन्द्योपि** ततो नीचाः तथा **तृणवीरुधोपि** 'आसामहो चरणरेणुजुषाम्' इति वाक्ये निरूपितम्। तथा **गावोपि** वाञ्छन्ति ता एव **चारयतो** भगवतः स्वयं तुल्या अपि **गोपाः पादस्पर्शमेव वाञ्छन्ति**। कात्रोपपत्तिरिति चेत् तत्राह **महात्मन** इति। महानेवात्मा इत्थंभूतानुभाव इत्यर्थः। युक्तिस्तु पूर्वमेवोक्ता। भगवदीयशरीरं तेनैव भवतीति 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः' इति च ॥४३॥

व्याख्यार्थ—उस वस्तु को ही सर्वोत्तम समझना चाहिए, जिसको, नीच लोक भी प्रसिद्ध सुखवाली वस्तु का त्याग कर चाहते हो, जैसे बिलकुल भूखा मिले हुए भोजन का त्याग कर, यदि दूसरे की चाहना करे तो समझना चाहिए कि वह दूसरी वस्तु इस भोजन से उत्तम है। जो तृप्त है वह यदि भोजन का त्याग कर दूसरी वस्तु की चाहना करे तो यों नहीं समझना कि वह दूसरी उत्तम होगी। अतः नीची से नीची श्रेणी(दर्जे) के मनुष्य व पदार्थ का दृष्टान्त देती हैं—व्रज की स्त्रियां, जिन्होंने कभी उत्कृष्ट लोक देखा ही नहीं वे कदाचित् स्वर्ग पद की मांग करे, किन्तु यदि वे भी उसका त्याग कर 'रज' की ही चाहना करती हैं, उनसे भी पुलिन्दियां कम दर्जे की हैं, वैसे ही तृण और लताएँ भी 'अहोचरणरेणुजुषाम्' में रज की ही कामना करती हैं, वैसे ही गायें भी रज को चाहती हैं, विशेष क्या कहें भगवान् के समान गोप भी पाद स्पर्श ही चाहते हैं, इसमें उपपत्ति[1] क्या

१— हेतुपूर्वक युक्ति

है ? जिसके उत्तर में कहती हैं कि ये चरण रज जो हम माँग रही हैं वे महान् आत्मा की है, वे ऐसे प्रभाव वाले हैं युक्ति तो पहले कही है, यह शरीर इस रजस्पर्श से ही भगवदीय होता है, भगवदीय होने पर ही सब अर्थ परिपूर्ण हो जाते हैं, बाद में कोई अर्थ नहीं रहता है ।।४३।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे चतुस्त्रिंशाध्यायविवरणम् ।।३४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ८०वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३४वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरण का षष्ठम् अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का संक्षिप्त सार भक्त शिरोमणि श्री सूरदासजी के निम्न पद में अवलोकन करें ।

राग बिलावल

हरि हरि हरि सुमिरौ दिन रात । नातरु जन्म अकारथ जात ।
सौ बातन की एकै बात । हरि हरि हरि सुमिरौ दिन रात ।।
हरि कुरुखेत अन्हान सिधाए । तब सब भूपति दरसन आए ।
हरि तिन सबकौ आदर कियौ । भयौ संतुष्ट सबनि को हियौ ।।
तब भूपति हरि को सिर नाइ । करन लगे अस्तुति या भाइ ।।
परमहंस तुम सबके ईस । वचन तुम्हारे सुनि जगदीश ।
तुम अच्युत अविगत अविनासी । परमानंद सकल सुख-रासी ।।
तुम तन धारि हरयौ भुव भार । नमो-नमो तुम्हे बारंबार ।
गुनि रानि रानिनि पै आईं । द्रुपद-सुता तब बात चलाई ।।
ज्यौं ज्यौं भयौ तुम्हारौ ब्याह । कहो सुनन कौ मोहिं उत्साह ।
कह्यौ सबनि हरि अज अबिनासी । भक्त-बछल सब जगत निवासी ।।
नहिँ हम गुन, नहिँ सुन्दरताई । भक्ति जानिकै सब अपनाई ।
ब्याह सबनि कौ ज्यौं ज्यौं भयौ । बहुरौ तिन त्यौं ही त्यौं कह्यौ ।।
द्रुपद-सुता सुनि मन हरषाई । कह्यौ धन्य तुम धनि जदुराई ।
धन्य सकल पटरानी रानी । जिन वर पायौ सारँग पानी ।।
धन्य जो हरि-गुन अह-निसि गावै । सूरदास तिहि की रज पावै ।।

卐

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ८४वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८१वां अध्याय
उत्तरार्ध ३५वां अध्याय

सात्त्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—७"

वसुदेवजी का यज्ञोत्सव

कारिका—**पञ्चत्रिंशे सात्त्विकानां फलोत्कर्षो निरूप्यते ।**
सन्मानसंग्रहौ चैव ऋणापाकरणं तथा ।।१।।

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस ३५वें अध्याय, सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण के ७वें अध्याय में सात्त्विकों के फलोत्कर्ष[1] का निरूपण किया जाता है तथा ऋषियों का सम्मान, यज्ञ के लिए उनको बुलाना तथा ऋण से वसुदेवजी का छूटना कहा जाता है ।।१।।

कारिका —**निरुद्धानां हि लोकेस्मिन् दुर्लभं चेति रूप्यते ।**
तदीयत्वं फलं नान्यदिति चोक्तं समासतः ।।२।।

१— तदीयत्वरूप फल का उत्कर्ष

कारिकार्थ—तदीयत्व[1] पूर्व कहा है, फिर कहने का कारण यह है कि इस लोक में लौकिक कामों से बद्ध है, उन निरुद्धों का तदीयत्व होना दुर्लभ है, किन्तु 'च' पद से कहते हैं कि भगवत्कृपा से सुलभ भी होता है। फल तो तदीयत्व होना ही है, अन्य कोई फल नहीं है, इसलिए ही समास से कहा है ॥२॥

कारिका—**आत्मीयानां निरोधं हि हरिरत्र करोति हि।**
अतः फलं पूर्वमेव सिद्धरीत्या तु बोध्यते ॥३॥

कारिकार्थ—हरि इस स्कन्ध में आत्मियों का ही निरोध करते हैं कारण कि इस स्कन्ध का अर्थ ही 'निरोध' है, अतः मुख्यपन से वह ही करना है, इसलिए यहाँ तदीयत्वरूप फल अनुवाद (सिद्ध) रीति से समझाया जाता है ॥३॥

कारिका—**अद्भुता भगवल्लीला निरोधः फलसूचकः।**
फलं तु फलतासिद्धयै किमाश्चर्यमतः परम् ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् की लीला ही अद्भुत है, निरोध तो फल का सूचक है, यहाँ जो फल-प्राप्ति है, वह निरोधरूप अर्थात् तदीयत्वरूप फल की ही सफलता है, न कि ऋषियों के सम्मान अथवा ऋणापाकरण से सफलता है ॥४॥

॥ इति श्री कारिका ॥

आभास—पूर्वाध्याये भगवतः स्वीयकरणलीला सर्वापि निरूपिता, दृष्टा अदृष्टा च, दृष्टा भगवत्कृतिः, अदृष्टं चरणरज इति, उभयोः संपत्तौ भगवदीयत्वं सेत्स्यति अतस्तासां स्त्रीणामत्याश्चर्यं भगवच्चरित्रं श्रुत्वा भगवति स्नेहानुबन्ध आश्चर्यं च जातमित्याह **श्रुत्वेति**।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में भगवान् की स्वीयकरण (भक्त को अपना करलेने की) लीला का पूर्ण रूप से निरूपण हुआ, वह दो प्रकार की थी, एक दृष्ट दूसरी अदृष्ट, दृष्ट लीला भगवत्कार्य और अदृष्ट लीला चरण रज दोनों की सम्पत्ति होने पर भगवदीयत्व होगा, अतः उन स्त्रियों का अतिशय आश्चर्य कारक भगवान् का चरित्र सुन भगवान् में स्नेहानुबन्ध हुआ, यह आश्चर्य निम्न श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं—

१- भगवदीयत्व

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी**
माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं
सर्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि कुन्ती, द्रौपदी, गान्धारी, सुभद्रा, राजाओं की स्त्रियाँ और भक्त गोपियाँ ये सब इस प्रकार भगवान् की स्त्रियों का, सर्व की आत्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में स्नेहानुबन्ध का चरित्र सुनकर बहुत विस्मित हुईं और उनके नेत्र आँसूओं से भर गए ॥१॥

सुबोधिनी—द्रौपदी प्रसङ्गं परं कृतवती। उपविष्टास्तु श्रवणार्थं सर्वा एव। अतो मुख्याः नामत उच्चार्यन्ते। **सुबलपुत्री** गान्धारी। **याज्ञसेनी** द्रौपदी। **माधवी** सुभद्रा। **अथ क्षितिपपत्न्यः** इतरराजस्त्रियः। **उत स्वगोप्यश्च**। अथद्वयमुतेति च **स्त्री**णां चतुर्विधत्वमुपपादयति। सात्त्विक्यो राजस्यः तामस्यो निर्गुणाश्चेति। एताः सर्वा एव **कृष्णे** परमानन्दे सर्वेषामात्मभूते सर्वदोषनिवर्तके **प्रणय**ः स्नेह एव **अनुबन्धो** यासाम्। भगवत्पत्नीनां तु विवाहादिरूपो बाह्योऽपि संबन्धोऽस्ति। अस्माकं तु साक्षात्संबन्धः प्रणय एव। अतः कथं भगवदीया भविष्याम इति। कथं चेयमवस्था च भविष्यतीति **सर्वा** एव विस्मयं प्राप्ताः। **स्मे**ति प्रसिद्धे। कदाचिद्विस्मयो बाह्योपि भवतीति क्रियान्तरमप्याह **अश्रुकलाकुलाक्ष्य** इति। अश्रूणां कलाभिः आकुलानि अक्षीणि यासां। कलाशब्द शोकं वारयति। आकुलत्वं ज्ञानक्रियायाः व्यापृतत्वं बोधयति ॥१॥

व्याख्यार्थ—द्रौपदी वह प्रसङ्ग कहने लगी जिसे सुनने के लिए सब ही बैठ गईं अतः जो मुख्य थों उनके नाम लिए जाते हैं, गान्धारी, द्रौपदी सुभद्रा और दूसरे राजाओं की स्त्रियाँ तथा अपनी गोपियाँ, 'अथ' दो बार और 'उत' इन पदों से स्त्रियों का चार प्रकार से प्रतिप्रादान करते हैं सात्विक राजसी, तामसी और निर्गुण, ये सब ही सर्व की आत्मा, सर्व दोष हरण करने वाले परमानन्द रूप श्रीकृष्णचन्द्र में स्नेह से अनुबन्ध वाली थीं, भगवान् की विवाहित स्त्रियों का तो बाह्य सम्बन्ध भी है, हमारा तो साक्षात् सम्बन्ध प्रणय ही है, अतः भगवदीय कैसे बनूँगी ? और ऐसी अवस्था कैसे होगी ? यों सुनकर सब विस्मित हो गईं 'स्म' अव्यय पद प्रसिद्धि अर्थ में दिया है। कदाचित् विस्मय केवल बहार दिखाने का ही हो, इस पर कहते हैं कि नहीं, केवल बाहर का नहीं था किन्तु आन्तर का भी था जिससे उनके नेत्र आसुओं से व्याकुल हो गए। 'कल' शब्द से यह सूचित किया है कि ये आँसू शोक के नहीं थे, आकुलपन बताता है कि ज्ञान क्रिया से वे व्यापृत हो गईं थीं ॥१॥

आभास—एवं पूर्वोक्तसाधनस्य फलाकाङ्क्षां निरूप्य भगवानेव फलमिति ज्ञापयितुं साधनानामेतच्छेषत्वं प्रतिपादयन् मुनीनामागमनमाह **इत्थं संभाषमाणास्वि**ति।

आभासार्थ—इसी तरह पूर्व कहे हुए साधन के फल की आकांक्षा का निरूपण कर भगवान्

ही फल हैं यह जताने के लिये यह साधनों का भगवत् शेषत्व[1] है यों प्रतिपादन करते हुए मुनियों का आगमन 'इत्थं सभाषमाणासु' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**इत्थं संभाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु।**
आययुर्मुनयस्तत्र रामकृष्णदिदृक्षया ॥२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार स्त्रियों के साथ स्त्रियाँ, पुरुषों के साथ पुरुष बातें कर रहे थे, वहाँ राम और कृष्ण के दर्शन के लिए मुनि आ गए ॥२॥

सुबोधिनी - **स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु** सर्वेषामेव भगवत्संबन्धिनां भगवत्परता निरूपिता भवति। येन संमर्देऽपि मुनीनामागमनं न विरुध्येत। अत एव तत्र **मुनयः आययुः**। यत्रैव यस्याभीष्टं फलं तत्रैव तस्यागमनम्। अतो **रामकृष्णावत्र** वर्तेते इति **तद्दिदृक्षया** मननेन ज्ञात्वा मननं साधनमपि परित्यज्य समागता इत्यर्थः। इदानीं बाह्यक्रिययैव प्राप्यत इति भावः ॥२॥

व्याख्यार्थ--स्त्रियाँ परस्पर, पुरुष भी आपस में भगवत्सम्बन्धी वार्तालाप कर रहे थे, जिससे सब स्त्री पुरुषों की भगवत्परायणता दिखाई है जिससे इस बात चीत करने के समय में भी मुनियों का आना विरोधी नहीं है, अतएव मुनि लोग वहाँ आए, जहाँ ही जिसका अभीष्ट फल होता है वहाँ ही उसका आना होता है, अतः राम कृष्ण यहाँ विराजते हैं, यह मन से जान इनके दर्शन की इच्छा से मनन रूप साधन करना भी त्याग कर आगए, अब बाह्य क्रिया से ही मिलते हैं यह भाव है ॥२॥

आभास– तान् गणयति **द्वैपायन** इति त्रिभिः।

आभासार्थ--उन मुनियों की द्वैपायन' इन तीन श्लोकों से गणना करते हैं–

श्लोक—**द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः।**
विश्वामित्रः शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥३॥
रामः सशिष्यो भगवान्वसिष्ठो गालवो भृगुः।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ॥४॥
द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथाङ्गिराः।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ॥५॥

श्लोकार्थ– वेदव्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज, गौतम, शिष्यों के साथ भगवान् परशुराम, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, ब्रह्मा के पुत्र, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य और वामदेव आदि अन्य ऋषि भी आए ॥३–५॥

१– इससे सिद्ध किया है कि भगवान् ही फल रूप हैं

सुबोधिनी—अत्रापि सात्त्विकादिभेदाः। **गौतमान्ता** नव सात्त्विकाः। तत्रापि भेदत्रयम्। उत्तमौ द्वौ, मध्यमाः षट्, एकश्चापर इति। **रामादयो**ऽपि नव राजसाः। **रामः** परशुरामः स भगवानेव तथापि तच्छिष्यास्तत्स्थानीयाः। यां लीलां प्रकाशयति सा निरूप्यते। द्वितादयो बहव एव। **ब्रह्मपुत्रः पुलहः**। अङ्गिरसो वा विशेषणम्। एते प्रकारनिरूपकाः ॥३–५॥

व्याख्यार्थ--यहाँ मुनियों में) भी सात्विक आदि भेद हैं, गौतम तक नव मुनि सात्विक हैं, उनमें भी तीन भेद हैं। दो उत्तम हैं, छ मध्यम हैं, एक साधारण है। राम आदि नव राजस हैं, राम से परशुराम समझना, वह भगवान् ही हैं तो भी उनके शिष्य मुनियों के समान है, जो लीला प्रगट करते हैं वह निरूपण की जाती हैं, द्वित आदि बहुत हैं ब्रह्मपुत्र पुलह हैं वा अङ्गिरस का विशेषण हैं। इस प्रकार निरूपण हैं ॥३-४-५॥

आभास—ततो यज्ज्ञातं तदाह **तान् दृष्ट्वे**ति।

आभासार्थ--बाद में जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'तान् दृष्ट्वा' श्लोक में करते हैं–

श्लोक—**तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः।**
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितान् ॥६॥

श्लोकार्थ पहले ही स्थित पाण्डव, कृष्ण, राम और राजादिक, सब विश्व में नमन करने योग्य, उन ऋषियों को देख, सहसा उठकर, प्रणाम करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी– लोके तद्गुणाः प्रसिद्धा इति तेषां बुद्धिमनुसृत्य व्यवहारं वा समाश्रित्य सन्माननां कुर्वन्ति सर्व एव। **सहसोत्थाये**ति। अत्रापि भेदत्रयं साधारणाः भक्ताः भगवांश्चेति। तत्र सर्व एव **प्रणेमुः**। तत्र हेतु**र्विश्ववन्दितानि**ति ॥६॥

व्याख्यार्थ--लोक में उन ऋषियों के गुण प्रसिद्ध थे, यों उनकी बुद्धि का अनुसरण कर, अथवा व्यवहार का आश्रयकर सब ही उनका सन्मान करने लगे, कैसे करने लगे? वह प्रकार बताते हैं। उनको देखते ही सब झट पट उठ खड़े हो गए इसमें भी तीन भेद हैं, १– साधारण २– भक्त और ३– भगवान् सब ने प्रणाम किया क्योंकि वे ऋषि विश्व में वन्दन योग्य हैं ॥६॥

श्लोक—**तानानर्चुर्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत्।**
स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥७॥

श्लोकार्थ—सब लोगों ने और राम सहित भगवान् ने इनका आसन, पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, धूप और चन्दन से स्वागत किया ॥७॥

सुबोधिनी—ततस्ता**नानर्चुः**। **यथा** यथावत्। **सर्व** एव। यथा वा लोकस्थाः **सर्वे** भगवन्मार्गानभिज्ञास्तथाऽभिज्ञा **अप्यानर्चुरि**त्यर्थः। यदि भगवान् न पूजयेत् तदा द्वैविध्यमापद्येतेति

सहरामः अच्युतोऽप्यर्चयत् । आर्चयदिति सन्धिरार्षः । अडागमाभावो वा । अर्चनाप्रकारमाह **स्वागतासनेति** ॥७॥

व्याख्यार्थ--पश्चात् उनका पूजन, जैसा योग्य था वैसा सब ही करने लगे अथवा जैसे भो लोक में स्थित थे. अर्थात् भगवन्मार्ग को जानने वाले या न जानने वाले, सबने पूजन किया जो भगवान् पूजन न करें तो दुविधा हो जाय इसलिये राम सहित भगवान् ने भी पूजन किया । जहाँ 'आर्चयत्' पाठ हो वहाँ समझना चाहिए कि यह 'आर्ष' सन्धि है । अथवा अट् का आगम नहीं हुवा है, पूजा का प्रकार 'स्वागतासन' से कहा है ॥६॥

आभास—स्तोत्राभावे कायिकं सर्वं नटवद्भवतीति स्तुतिमाह **उवाच सुखमासीनानिति** ।

आभासार्थ--यदि स्तुति न की जावे तो अन्य पूजा आदि केवल नाटक देखने में आवे अर्थात् दिखावा मात्र है इसलिए 'उवाच' श्लोक में स्तुति कहते है-

श्लोक—**उवाच सुखमासीनान् भगवान् धर्मगुब् विभुः ।**
सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुशृण्वतः ॥८॥

श्लोकार्थ – धर्मरक्षार्थ प्रगट विभु भगवान् मौन धारण कर बैठी हुई सभा जब सुनने के लिए तैयार हो गई, तब सुखपूर्वक विराजमान ऋषियों को कहने लगे ॥८॥

सुबोधिनी--यतो भगवान् कर्तव्यं जानाति । भगवतोऽपि तादृशकथने हेतुः **धर्मगुबिति** । तावतापि न काचित्क्षतिरिति **विभुरिति** । धर्मगुप्तनुरिति पाठे धर्मरक्षार्थमेव तनुर्यस्येति । मुनिस्तोत्रादिकमपि अवतारकार्यमेवेति सूचितम् । यस्मिन् स्थाने स्तोत्रे कृते लोकप्रसिद्धिर्भवति तादृशमिदं स्थानमिति ज्ञापयितुमाह **सदसस्तस्य शृण्वत** इति । **महत** इति माहात्म्यं प्रकृतोपयोगि । **यतवाच** इति सावधानता च तथा ॥८॥

व्याख्यार्थ –अब क्या करना चाहिए, इसको श्रीकृष्ण जानते हैं क्योंकि भगवान् हैं, भगवान् होकर भी ऋषियों की स्तुति क्यों करने लगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'धर्मगुब्' विशेषण दिया है और आप 'विभु' हैं अतः यों स्तुति करने में भी किसी प्रकार क्षति नहीं है, कहां 'धर्मगुप्तनुः' पाठ है, उसका अर्थ यों करना कि धर्म की रक्षा के लिए ही शरीर धारण किया है, मुनियों की स्तुति करना भी अवतार का ही कार्य है, यों सूचित किया, जिस स्थान पर स्तुति करने पर लोक में प्रसिद्धि हो वैसा यह स्थान है यह जताने के लिए कहते हैं कि, वाणी को रोक सावधान हो सब सदस्य सुनने लगे. कारण कि यह स्तुति महती (महान्) है और स्तुति प्रकृत विषय के उपयोगी है ।८॥

कारिका—**पञ्चभिर्भगवानाह स्तोत्रं तेषां महात्मनाम् ।**
तन्मुखान्निर्णयं वक्तुं पूर्वपक्षोक्तिरूपतः ॥८॥

कारिकार्था—उन महात्माओं की स्तुति भगवान् पाँच श्लोकों से करते हैं, किन्तु उनके मुख से निर्णय कहलाने के लिए पूर्व पक्ष रूप यह स्तुति है ॥८॥

आभास—आदौ भगवान् तेषां दर्शनं स्तौति **अहो वयमिति** ।

आभासार्थ—प्रथम भगवान् उनके दर्शन की प्रशंसा 'अहो वयं' श्लोक में करते हैं-

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कात्स्न्र्येन तत्फलम् ।**
देवानामपि दुःप्रापं यद्योगेश्वरदर्शनम् ॥९॥

श्लोकार्था—श्री भगवान् ने कहा-अहो ! आज हमारा जन्म सार्थक हुआ, जन्म लेने का फल सम्पूर्ण रीति से मिला; क्योंकि देवों को भी आप योगेश्वरों के दर्शन दुर्लभ हैं, वह मिला ॥९॥

सुबोधिनी—**अहो** इत्याश्चर्ये । **वयमिति** श्लाघायाम् । **जन्मभृतो वयमेव** सफलजन्मान इत्यर्थः । कथमित्याकाङ्क्षायां जन्मफलं जातमिति निरूपयति **लब्धं कात्स्न्र्येन तत्फलमिति** । जन्मफलं ज्ञानादिकमपि भवति धर्मश्च परं कात्स्न्र्येन फलम् । तस्य दुर्लभत्वमाह **देवानामपि दुःप्रापमिति** । यस्माद् **योगेश्वराणां दर्शनं देवानामपि** दुर्लभम् । यत इन्द्रो महतापि कष्टेन बृहस्पतेर्दर्शनं न प्राप्तवान् । तदुक्तं षष्ठे ॥९॥

व्याख्यार्थ—'अहो' आश्चर्य अर्थ में दिया है । वयं पद यश में दिया है, 'जन्म-भृत' पद से यह सूचित किया है कि हमारा जन्म ही सफल हुआ, कैसे सफल है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जन्म लेने का जो फल है, वह हमने सम्पूर्ण रीति से प्राप्त किया है । यों तो जन्म का फल ज्ञानादि का भी होता है और धर्म भी होता है, किन्तु ये फल पूर्ण नहीं है । हमको जो फल अब मिला है जो सम्पूर्ण है, इससे विशेष कोई फल नहीं है जिसका कारण है, कि यह फल देवों को भी दुर्लभ है क्योंकि श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं योगेश्वरों का दर्शन देव भी नहीं पा सकते हैं जिससे इन्द्र महान् कष्ट से भी बृहस्पति का दर्शन नहीं पा सके वह छठे में कहा है ॥९॥

आभास—केवलं दर्शनस्य दुर्लभतां निरूप्य तत्संबन्धिनां सर्वेषामेव निरूपयन् अस्य फलत्वे तर्कमाह **किं स्वल्पतपसामिति** ।

आभासार्थ—केवल दर्शन की दुर्लभता का निरूपणकर उसके सम्बन्धी सबका निरूपण करते हुए, इसके फलपने में तर्क 'किं स्वलप' श्लोक में कहते है-

श्लोक—**किं स्वल्पतपसां नॄणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।**
दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥१०॥

श्लोकार्था—मनुष्य अल्प तप वाले होते हैं कारण कि वे मूर्ति मात्र में ही देव

बुद्धि करते हैं, जब मुनियों के तो साक्षात् दर्शन होते हैं, उनसे प्रश्न कर सकते हैं, नम्रता से उनका पूजन आदि हो सकता है, वह सब मूर्ति में केवल भाव से होता है, मुनियों में तो साक्षात् होता है ॥१०॥

सुबोधिनी--देवादीनां महत्तपो भवत्येव। मनुष्याणामेव न भवतीति ज्ञापयितुं **नऋणामि-त्युक्तम्**। अल्पतपस्त्वे हेतुः **अर्चायां देवचक्षुषा-मिति**। अर्चा प्रतिमा आदौ जडाजडप्रकृतिः तत्रापि पामरैः कृता तादृशी स्वस्य चेतनस्य कथं देवता भवेत्। आकृतिरस्तीति चेत् तर्हि नटेन किमपराद्धं, स्थैर्यं नास्तीति चेत् तर्हि जडा आकृतिः, चैतन्यं गुणाश्च राशिद्वयं कृत्वा विचार्यताम्। किं चैतन्यं गुणाः देवता आहोस्विदाकृतिमात्रमिति विशिष्टेन सन्देहः, आकृतिरप्रयोजिका अभगवत्त्वाद् अन्यथा तद्गृहाकृतिः तद्देहाकृतिश्च सर्वेष्वेव वर्तत इति तत्परित्यज्य कुशकाशावलम्बनेन बुद्धिस्थैर्यं कुर्वाणा अल्पतपसो भवन्ति। मुनिषु तु **दर्शनं**, **स्पर्शनं** पादयोस्ततः **प्रश्नः**, ततो विनयः ततः **पादार्चनम्**। एतदादि सर्वं किं भवति चेतनधर्माश्चैते ॥१०॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'नऋणा' पद कहा हैं, जिसका भाव प्रकट करते हैं कि यह पद इसलिए दिया है कि देवादि का तप महान् ही होता है। मनुष्यों का अल्पतप होता है,मनुष्य अल्पतपवाले क्यों होते हैं जिसका कारण बताते हैं कि वे 'प्रतिमा' में देवबुद्धि करते हैं। प्रतिमा जड़ प्रकृति है और मनुष्य चेतन प्रकृति है, इसमें भी 'प्रतिमा' साधारण पामरों की बनाई हुई है। वह जड़ प्रकृति, चेतन प्रकृति की देवता कैसे हो सकेगी ? यदि कहो कि आकृति है तो नट ने कौनसा अपराध किया जो उसमें तो कोई देव बुद्धि नहीं करता है। यदि कहो कि नट में स्थिरता नहीं है तो आकृति तो जड़ है। नट में चेतन और गुण हैं दोनों को मिलान कर फिर विचारना चाहिए। क्या चेतन्य और गुण देवता हैं अथवा केवल आकृति ही देवता है ? इस सब पर विचार करने से मिलाकर ध्यान देने से सन्देह होता हैं, आकृति तो अप्रयोजक है, क्योंकि वह भगवान् नहीं है। अन्यथा उसके गृह की आकृति वा देह की आकृति आदि सब में ही भगवान् हैं, इस प्रकार होने पर भी उनका त्याग कर, कुशकाशादि के अवलम्बनवत् प्रतिमा में बुद्धि की स्थिरता करने, वाले अल्प तप वाले हैं मुनि भगवत्सम्बन्ध वाले चेतन हैं, उनमें तो दर्शन, चरणों का स्पर्श पश्चात् प्रश्न, बाद में विनय, अनन्तर, पूजा इत्यादि सब कुछ इनमें हो सकता है, कारण कि, ये चेतन धर्म वाले हैं ॥१०॥

आभास—नन्वेवं सति कथं सर्वोपि लोकः प्रवर्तत इति चेत्तत्राह **न ह्यम्मयानि तीर्थानीति**।

आभासार्थ—यदि यों हैं तो सब लोग क्यों प्रतिमादि का पूजन करते हैं जिसका उत्तर 'न ह्यम्मयानि' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।**
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥११॥

श्लोकार्थ—तीर्थ केवल जलमय नहीं हैं, देवता केवल मृत्तिका और पाषाणादि धातुमय नहीं हैं, किन्तु वे भक्त को चिरकाल में (बहुत समय में) पवित्र करते हैं, साधु लोग तो दर्शन से ही शीघ्र पवित्र करते हैं ॥११॥

सुबोधिनी- **तीर्थ**शब्देन यच्छोधकं स्वच्छं तदुच्यते, तज्जलमपि भवति, महान्तोपि भवन्ति। अतो जलमयानि किं तीर्थानि न भवन्ति भवन्त्येव अपां शोधकत्वस्य दृष्टत्वात्। परं या शुद्धिः ज्ञानरूपा महद्भिर्भवति सा न भवत्येव। तथैव **देवा** अपि मृण्मयाः **शिलामयाश्च**। केषांचिन्मते स्थानमेव देवः, प्रतिमा त्वप्रयोजिका। तस्मिन् स्थाने या काचित् प्रतिमा स्थापिता सैव देवो भवति न त्वन्यत्र। अतो मृण्मया एव देवाः शिलामया वा यत्र स्थानं न प्रसिद्धं शिलारूप-लक्षणम्। अष्टविधानां स्थिराः शिलामया एव भवन्तीति वा। तर्हि लोकप्रसिद्धं किं निन्द्यते नेत्याह **ते पुनन्त्युरुकालेने**ति। **साधवस्तु** दर्शन-मात्रेणैव। नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते अपि तु विधेयं स्तोतुमिति पूजायां प्राप्तायां मृण्मयाद्य-पेक्षया साधवः पूज्याः। तीर्थगमनापेक्षया साधव एवाभिगन्तव्या इति न तु लोकसिद्धं निन्द्यत इत्यर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थ—तीर्थ शब्दों से उसका ग्रहण किया जाता है जो शोधक (शुद्ध करने वाला) और स्वयं स्वच्छ हो वह जल भी हो सकता है और महात्माएं भी होते हैं अतः पानी रूप जो हैं, वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते हैं ? हो ही सकते हैं, कारण कि पानी में शोधक गुण देखा जाता है, परन्तु जो ज्ञान रूप शुद्धि साधुजन कर सकते हैं, वह शुद्धि तीर्थ नहीं कर सकते हैं, वैसे ही, मिट्टी से बनी हुई और शिला से बनी देव प्रतिमाएं भी पवित्र करने वाली हैं किन्तु भक्तजनों के समान ज्ञान भक्ति आदि देखकर शुद्ध नहीं कर सकती हैं, कितनों के मत में स्थान ही देव है प्रतिमा तो अप्रयोजक है। उस स्थान में जो कोई प्रतिमा स्थापित की जाती है वह प्रतिमा ही देव होती है दूसरे स्थान पर प्रतिमा देव नहीं बनती है, अतः देव मिट्टी वा पत्थर के ही हैं। जहाँ स्थान प्रसिद्ध नहीं है, वहाँ शिला रूप लक्षण वाली ही प्रतिमा है, आठ प्रकार की प्रतिमाएं स्थिर और शिलामय ही हैं, लोक में तो प्रसिद्ध है कि वे देवता हैं उनकी निन्दा क्यों की जाती है ? उत्तर देते हैं कि निन्दा नहीं करते हैं किन्तु कहते हैं कि वे बहुत समय सेवन करने के बाद पवित्र करती हैं भक्त और ज्ञानीजन तो केवल दर्शन से ही पवित्र करते हैं किसी की भी यदि निन्दा की जावे तो वह निन्दा उसकी निन्दा के लिए नहीं हैं किन्तु जिसका विधान करना है, उसकी स्तुति के लिए है इसलिए जब पूजा का प्रश्न आता है कि किसकी पूजा शीघ्र फल देने वाली है तब कहा जाता है कि ज्ञानी भक्त जो साधुजन हैं उनकी पूजा, तीर्थ और प्रतिमा से विशेष है अतः तीर्थ और प्रतिमा की अपेक्षा उनकी पूजा करनी चाहिए, कारण कि, उनकी पूजा से फल शीघ्र मिलता है, तीर्थों पर जाने के बजाय भक्तजनों के पास जाना चाहिए, इससे लोक सिद्ध तीर्थ आदि की निन्दा नहीं की जाती है ॥११॥

आभास—नन्वेतदपेक्षया सूर्यादयः प्रत्यक्षदेवाः सन्ति त एव कथं न पूज्यन्त इति चेत् तत्राह **नाग्निर्न सूर्य** इति।

आभासार्थ—इन साधुजनों की अपेक्षा सूर्य आदि प्रत्यक्ष देव हैं वे ही क्यों न पूजे जाते हैं ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर 'नाग्निर्न सूर्यो' श्लोक में हैं-

श्लोक—**नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारकाः**
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥१२॥

श्लोकार्थ—अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारा, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मन इनकी उपासना की जावे, तो भी ये अज्ञान का हरण नहीं करते हैं, केवल पाप का नाश करते हैं, कारण कि भेद को अङ्गीकार कर वे प्रवृत्त हुए हैं, किन्तु साधुजन, ज्ञानी मुहूर्त मात्र की सेवा से अज्ञान मिटा देते हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—**अग्निर**ग्निहोत्रादिषु प्रसिद्धः । **सूर्योऽ**प्युपासनायाम्, **चन्द्रो**पि व्रतादौ **तारका** अपि ग्रहादिपूजायां बुधादिरूपाः अश्विन्यादिरूपा वा, **भूमि**श्च विश्वंभरा उपासनादौ, तथा **जलम्**, तथैव हृदयाकाशः । तथैव प्राणायामरूपो वायुः **श्वसन**ः । अथ भिन्नप्रक्रमेण **वाक्** सरस्वती । तथा **मन**श्च योगादौ 'मनोवशेऽन्ये ह्यभवश्च देवाः' इति । एते सर्वे भगवद्बुद्ध्या पूजिताः **अघं हरन्ति** पापक्षयमेव कुर्वन्ति न त्वधिकम् । तत्र हेतुः **भेदकृ**दिति । भेदमङ्गीकृत्य हि सः प्रवर्तते । यो ह्यखण्डं भिनत्ति स कथं कृतार्थो भवेत् । **विपश्चि**तस्तु भेदं दूरीकुर्वन्ति तदाह **विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवये**ति । तावतैव ज्ञानोदयः सर्वपापक्षयः अनायासेन भवति 'नालं कुर्वन्ति तां शुद्धिं या ज्ञानकलया कृता' इति वाक्यात् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—'अग्नि' की उपासना अग्निहोत्र में प्रसिद्ध है, सूर्य की भी सन्ध्यावंदन आदि में उपासना होती है, चन्द्रमा की व्रत आदि में पूजा होती ही है, तारे भी ग्रहादि पूजा में बुधादि अथवा अश्विनी आदि रूप से पूजे जाते हैं भूमि विश्वम्भरा होने से उपासनादि में पूजी जाती है, वैसे ही जल, हृदयाकाश, प्राणायाम रूप वायु आदि पूजे जाते हैं 'अथ' पद से सब पृथक् क्रम से कहते हैं कि वाक् अर्थात् सरस्वती, मन की उपासना योगादि में होती है जिससे ही शास्त्र में कहा है कि 'मनोवशेऽन्येह्यभवश्च देवा ? मन वश होने पर सब देव वश में हो जाते हैं, ये सब यदि भगवत् बुद्धि से पूजे जाते हैं तो पाप का ही नाश करते हैं, विशेष नहीं अर्थात् ज्ञानादि उत्पन्न कर अज्ञान को नाश नहीं कर सकते हैं, इसमें कारण यह है, कि भेद को अङ्गीकार कर वह प्रवृत्त होता है जो अखण्ड को खण्ड करता हैं, वह कृतार्थ कैसे होगा ? ज्ञानी तो भेद को दूर करते हैं, अतः कहते हैं, कि ज्ञानी मुहुर्त्तमात्र सेवन से भेद को नाश कर देते हैं, इतने में ही ज्ञान का उदय और पाप का क्षय बिना परिश्रम ही हो जाता है, जो शुद्धि ज्ञान कला से होती है वह उन भेद कृतों से नहीं होती है ॥१२॥

आभास—एवं परमार्थमुक्त्वा एतद्व्यतिरिक्तान् सर्वान् एकीकृत्य निन्दति **यस्यात्मबुद्धिरिति** ।

आभासार्थ—यों परमार्थ कह कर इनसे पृथक् सबको एक साथ में निम्न श्लोक से निन्दित करते हैं।

श्लोक—**यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके**
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥१३॥

श्लोकार्थ—जो लोग वात, पित्त और कफमय शरीर को ही आत्मा रूप जानते हैं, स्त्री आदि में ही अपनत्व की बुद्धि रखते हैं, भूमि के विकार रूप पदार्थों में पूज्य बुद्धि रखते हैं तथा जल में तीर्थ बुद्धि करते हैं, किन्तु ज्ञानी भक्तों में कभी भी आत्म बुद्धि एवं पूज्य बुद्धि नहीं करते हैं, वे ही बैल वा गर्दभ (गधे) हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—**कुणपे** देहे । चैतन्यरहितो देहः कुणपमित्युच्यते । न हि चेतनस्य जडः आत्मा भवति । तत्र मूलविचारेणापि दोषमाह **त्रिधातुक** इति । वातपित्तश्लेष्मप्रकृतिकोऽयं देहः, आत्मा चेतनप्रकृतिकः । अतोस्य देहस्य धातव एव आत्मानो भवितुमर्हन्ति न त्वात्मा । आत्मनो वायं भवति । एवमात्मबुद्धिर्भ्रान्तेति निरूप्य आत्मीयबुद्धिरपि भ्रान्तेत्याह **स्वधीः कलत्रादिष्वि**ति । आत्मीयास्त एव भवन्ति ये स्वस्योपकुर्वन्ति ते सन्त एव, कलत्रादयस्त्वपकुर्वन्ति । तथा भगवानेव आत्मनामात्मा सद्रूपः । **भौमे** भूविकारे **इज्यधीः** स्वदेहस्यापि भूमिजत्वात् । **तीर्थबुद्धिश्च सलिले** । एवं बुद्धिचतुष्टयं यस्य स न कर्हिचिदपि अभिज्ञेषु जनेषु मन्तव्यः किंतु मूर्खेष्वेव मन्तव्यः । किं बहुना स एव **गौर्बलीवर्दः खरो** वा । बलीवर्दानां तृणानयनार्थं खरो वा । पशुप्राया गृहस्थाः तेषां निर्वाहक इति । एवं मुनिस्तोत्रार्थं लोकप्रसिद्धाः पदार्था निन्दिताः ॥

व्याख्यार्थ—'कुणपे' अर्थात् देह में, जिस देह में चैतन्य नहीं है उसको कुणप कहते हैं, चेतन की आत्मा जड़ नहीं होती है' उसमें मूल विचार से भी दोष दिखाते हैं 'त्रिधातुके' वह देह वात पित्त और कफ की प्रकृति वाली है और आत्मा चेतन प्रकृति वाली है इस कारण से देह की आत्मा धातु ही है न कि आत्मा, अथवा यह आत्मा की होती है, इस प्रकार देह में आत्म बुद्धि भ्रान्त है, यो निरूपण कर अपनेपन की बुद्धि भी भ्रान्त है, स्त्री आदि में अपनापन समझना भूल है । अपने वे ही होते हैं जो अपना कल्याण करते हैं । वे कल्याण करने वाले तो सन्त ही हैं, स्त्री आदि तो हानि ही करते हैं । वैसे भगवान् ही आत्माओं की आत्मा सद्रूप है 'भौमे भूविकारे इज्यधी' पृथ्वी से बने पदार्थों में पूज्य बुद्धि भी भ्रान्ति है, अपनी देह भी पृथ्वी से बनी हुई है 'तीर्थ बुद्धिश्चसलिले' पानी में तीर्थ बुद्धि करना भी भ्रान्ति है । इस प्रकार की चार बुद्धि जिसकी है उसको कभी भी ज्ञानियों की श्रेणी में नहीं गिनना चाहिए किन्तु मुर्खों में ही गिनना चाहिए विशेष क्यों कहें वह ही बैल वा खर है, अथवा बैलों के लिए तृण ले आने वाले जैसे गर्दभ हैं, वैसे ही ऐसे ये मनुष्य भी पशु प्रायः गृहस्थियों के निर्वाह के लिये खर (गदहे) हैं, इसी तरह मुनियों की स्तुति के लिए हो लोक प्रसिद्ध पदार्थों की निन्दा की है ॥१३॥

आभास—तेषां पूर्वं भगवानेव स्तोत्रं कृतवान् वेदादिद्वारा अतो विरुद्धमुभयमपि तन्निर्णयार्थं मुनीनां संदेहो जात इत्याह **निशम्येत्थं भगवत** इति ।

आभासार्थ—जिन तीर्थ आदि की भगवान् अब हीनता कर रहे हैं उनकी ही भगवान् ने प्रथम वेद द्वारा स्तुति की है अतः भगवान् के दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध होने से इनका निर्णय करना मुनियों को भी कठिन हो गया इसलिए संदेह में पड़ गए, ऐसी अवस्था देख श्री शुकदेवजी 'निशम्य' श्लोक में इसका वर्णन करते है,

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याकुण्ठमेधसः ।**
वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन् भ्रमद्धियः ॥१४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि अकुण्ठ बुद्धि भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार के दुरन्वय वचन सुनकर मुनि संशयग्रस्त होने से चुप हो गए ॥१४॥

सुबोधिनी– एवं **भगवतो वचो निशम्य भ्रमद्धियो** भूत्वा **तूष्णीमासन्निति** संबन्धः । ननु संदेहः कथं, भगवद्वाक्यप्रामाण्ये निश्चय एव, अन्यथा पूर्वसिद्ध एवार्थः तत्राह **अकुण्ठमेधस** इति । अकुण्ठा मेधा यस्येति को वेद केनाभिप्रायेण एवं वदतीति संदेह इत्यर्थः । ननु निश्चय एव कुतो नोत्पद्यते तत्राह **दुरन्वयमिति** । अन्वयो लोकसिद्धार्थसमर्पकः तद्विरुद्धत्वात् दुरन्वयः । अत एव **भ्रमद्धियः** ॥१४॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के भगवान् के वचन सुनकर, संशयग्रस्त बुद्धि वाले होने से चुप हो गए, यों अन्वय है– भगवान् के वाक्यों में सदेह कैसे ? भगवान् के वाक्यों के प्रामाण्य में तो निश्चय ही है, नहीं तो अर्थ पूर्ण सिद्ध ही हो, इस पर कहते हैं, 'अकुण्ठमेधसः' जिसका कहा हुआ समझ में नहीं आता है कि ये वचन किसी अभिप्राय से कह रहे हैं, इस कारण से संदेह है आपके वचनों से निश्चय क्यों नहीं उत्पन्न होता है ? जिसके उत्तर में कहते है कि 'दुरन्वयं' आपके वचन लोक सिद्ध अर्थ के समर्थक भी हैं और उनके विरुद्ध भी हैं इसलिए 'दुरन्वय' हैं अर्थात् समझ में नहीं आते हैं, इस कारण से संशय में पड़ गए हैं ॥१४॥

आभास—ततस्तेषां निर्णयो जात इत्याह **चिरं विमृश्येति ।**

आभासार्थ—पश्चात् उनका निर्णय हुआ, वह 'चिरंविमृश्य' श्लोक में कहते हैं–

श्लोक - **चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम् ।**
जनसंग्रह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—मुनि लोग ईश्वर की इस दीनता व सेवकत्व का बहुत विचार कर हँसते हुए उस जगत् के गुरु को कहने लगे कि यों आपका कृत्य, जनसंग्रहार्थ ही है ॥१५॥

सुबोधिनी– **मुनय** इति मननं विचारे साधकम् । विचारितमर्थमाह **ईश्वरस्येशितव्यतामिति**। **ईश्वरस्य** सर्वसमर्थस्य **ईशितव्यता** सेवकता या सा **जनसंग्रहः**, जना एवं बुद्धया संगृहीता भवन्तीति । यथा स्वयं चेदेवं ब्रूयाद् अन्योऽप्येव वदेदिति । ततो भगवद्वाक्याभिप्राय ज्ञात्वा, **स्मयन्तो** हसन्तः **तं जगद्गुरुं** सर्वहितोपदेष्टारं प्रति किंचिद्**ऊचुः** ॥१५॥

व्याख्यार्थ—'मुनय' पद का अर्थ है, विचार करने में जिनका साधक मनन ही है वे मुनि हैं जिस विषय का विचार किया जा रहा है उसको कहते हैं कि 'ईश्वरस्येशितव्यताम्' सर्व समर्थ की यह जो सेवकता है वह लोक संग्रह है अर्थात् मनुष्य इस प्रकार बुद्धि से सिखाए जाते है, जैसे कि जब आप इस प्रकार सेवकता एवं दीनता के वचन कहें, तब अन्य लोग भी कहना सीखें, पश्चात् भगवान् के वाक्यों का अभिप्राय समझ हँसते हुए उस जगद्गुरु सर्व के हित के उपदेष्टा को कुछ कहने लगे ॥१५॥

आभास—तत्र मुनयः द्वेधा निर्णयं वदन्ति किमद्य भगवान् अस्मान् व्यामोहयितुं वदति आहोस्विदन्येषामुपकाराय । यद्यस्मान्प्रति वदति तदोत्तरमुच्यत इत्याहुः **यन्माययेति ।**

आभासार्थ—इस विषय में मुनि लोग दो तरह से निर्णय देते हैं कि आज भगवान् हमको मोह में डालने के लिए यों कहते हैं अथवा अन्यों के उपकार के लिए कह रहे हैं, जो हम को यों कहते हैं तो 'यन्मायया' श्लोक से उत्तर कहते हैं ।

श्लोक—मुनय ऊचुः—**यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं**
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥१६॥

श्लोकार्थ – मुनि कहने लगे कि तत्त्व ज्ञान में उत्तम और विश्व के बनाने वाले कश्यप आदि के उपदेष्टा हम भी जिसकी माया से मोहित हो रहे हैं, वे आप गूढ रह कर सेवकता बता रहे हो, अतः आपकी लीला विचित्र एवं ज्ञानी को भी भ्रम में डालने वाली है । यह बड़ा आश्चर्य है ॥१६॥

सुबोधिनी – **तत्त्व**विदां मध्ये **उत्तमाः** साक्षात्कारतद्बोधनसमर्थाः । अनेन ज्ञानशक्तिर्निरूपिता । **विश्वसृजामधीश्वरा** इति **विश्वसृजः** कश्यपादयः ये सर्वदा विश्वं सृजन्ति तेषामपि **वयमधीश्वराः** उपदेष्टारो नियन्तारो वा तेपि **वयं विमोहिताः** । विमोहनमाहुः यद्यस्माद्भगवान् **गूढः** सन् स **ईशितव्यायति** ईशितव्यवदाचरति सेवकभावं संपादयति । **ईहया** चेष्टया । तथा चेष्टां प्रकटयति यथा लोकः ईशितव्यं जीवमेव मन्यते न त्वीशम् । एतादृशं भगवच्चरित्रं श्रुत्वा आश्चर्याविष्टा आहुः **अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितमिति** । भगवद्विचेष्टितत्वम् । तथा करणे अकरणे च हेतुरिति विचित्रता । भगवांश्चेत्किमित्येवं करोति कुतो वा न करोति इत्युभयत्रापि भगवत्त्वस्य

हेतुत्वात् अनीशितृत्ववद् अल्पेशितृत्वमपि भगवति नास्ति, नापि भगवता एवं कर्तव्यमेवं न कर्तव्यमिति क्वचिन्निर्धारोऽस्ति, तस्मादलौकिकत्वात्सर्वमेव भगवच्चरित्रं विचित्रम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—तत्त्व वेत्ताओं में उत्तम साक्षात्कार और उसके बोध देने में समर्थ हम हैं इससे ज्ञानशक्ति का निरूपण किया है, विश्व को रचने वाले कश्यप आदि के भी उपदेष्टा तथा नियामक होते हुए भी हम मोहित हो रहे हैं, कैसा वह मोह है, भगवान् होकर भी अपना स्वरूप गूढ रख सेवकवत् आचरण कर रहे हैं। इस चेष्टा से लोग आपको जीव समझते हैं न कि भगवान्, इस प्रकार आपका चरित्र सुन व देख आश्चर्य में पड़ कर ऋषि लोग कहने लगे, कि भगवान् की लीला विचित्र है, क्योंकि भगवान् होकर यों क्यों करते हैं, अथवा यह क्यों नहीं करते हैं, दोनों में भगवत्व ही हेतु हैं, अनीशता अल्पेशता भी भगवान् में नही हैं, भगवान् को यों करना चाहिए वा यों नहीं करना चाहिए जिसका भी कोई निर्णय नहीं है, इससे अलौकिक होने से सब ही भगवान् के चरित्र विचित्र हैं ॥१६॥

आभास—सर्वस्यैवालौकिकत्वाय सहजमपि भगवच्चरित्रं परस्परविरुद्धमित्याह **अनीह** इति ।

आभासार्थ—सर्व के ही अलौकिकत्व के लिए, सहज भी भगवान् का चरित्र परस्पर विरुद्ध दीखता है। इसके लिए 'अनीह' श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**अनीह एतद्बहुधैक आत्मना सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा।**
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—जैसे पृथ्वी एक होते हुए भी अपने में से घट आदि पदार्थों को उत्पन्न कर अनेक नाम रूप वाली होती है, वैसे ही आप भी एक हैं और चेष्टारहित हैं, तो भी इस नाना प्रकार के जगत् को उत्पन्न करते हो, उसकी रक्षा करते हो और फिर उसको अपने में लीन करते हो, यों करते हुए भी उसके बन्धन में नहीं आते हो, इसके दोषों से स्वयं दोष वाले नहीं होते हो, अतः आपका यह चरित्र लोकानुकरण तथा विचित्र है ॥१७॥

सुबोधिनी—लोके ईहासहित एव घटादिकं सृजति मन्त्रयोगादिनापि सृजन् मानसीं क्रियामनुसंधत्ते। भगवांस्तु **अनीह** एव तत्राप्येकः। एतच्चान्येन मनसाप्याकलयितुमशक्यं तच्च बहुधा ब्रह्माण्डकोटिषु विसदृशानेव सृजतीति। तत्रापि **आत्मनैवाविक्रियमाणेन** एवमपि कुर्वन् तेन कर्मणा **न बध्यते** करोति च **यथा** विकृतम्। अन्यथा सा सृष्टिस्तादृशीत्येवेति नाश्चर्यं स्यात्। तदर्थमाह यथा **भौमैर्हि भूमिः**, **भौमैरेव** विकारै-**र्भूमिर्बहुनामरूपिणी** भवति। तथा भगवान् स्वयमेव नानाविधत्वमापद्यते। अविकृतत्वादयस्त्वधिकाः। अत एव भगवतः अनुकरणमपि विचित्रं सर्वमेवानुकरणं वा ॥१७॥

व्याख्यार्थ लोक में मिट्टी से घट आदि जो बनाते हैं वे इच्छा से युक्त होने से ही बनाते हैं, मन्त्रयोग आदि से जो बनाते हैं वे भी मानसी क्रिया का अनुसन्धान करते हैं। अतः वहाँ भी मानसिक चेष्टा है, भगवान् तो चेष्टा रहित हो हैं फिर एक हैं, दूसरे जिसको मन से भी विचार नहीं सकते हैं, उसको भगवान् अनेक प्रकार से कोटि ब्रह्माण्डों में पृथक् पृथक् तरह के बनाते है, यहाँ भी विकृत न होकर स्वरूप से ही बनाते हैं, बनाने पर उस कर्म से बन्धन में नहीं आते हैं, जैसे विकृत आते हैं, अन्यथा वह सृष्टि वैसी ही है, इसलिए आश्चर्य नहीं है, इस वास्ते कहते हैं कि पृथ्वी से बने हुए घट शराब (सुराही या कुंजा) आदि पदार्थों से बहुत नाम और रूपोंवाले होकर भी पृथ्वी अन्य नहीं होती है, वैसे ही भगवान् स्वयं नाना विधिरूप नाम होत हैं, फिर अधिकता तो उनमें यह हैं कि 'अविकृतत्व' नहीं आता अतएव भगवान् का यह अनुकरण भी विचित्र है, अथवा सर्व ही अनुकरण है ॥१७॥

आभास—एवमघटमानत्वमुपपाद्य श्रोत्कृन् प्रत्युपदेशपक्षे वक्तुमुचितमिति समर्थयन्ते **अथापीति** ।

आभासार्थ इस तरह भगवच्चरित्र का अघटमानपन सिद्ध कर उपदेश पक्ष में श्रोताओं को समझाने के लिए कहना उचित है, इसलिए 'अथापि' श्लोक से उसका समर्थन करते हैं।

श्लोक—**अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च।**
स्वलीलया वेदपथं पुरातनं वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥१८॥

श्लोकार्थ—तो भी आप समय आने पर भक्तों की रक्षा और खलों का निग्रह करने के लिए सत्व (शुद्ध) को धारण कर अवतार लेते हो और प्राचीन वेद मार्ग की लीला से रक्षा करते हो, आप वर्ण तथा आश्रम रूप होकर भी इससे पर पुरुष भी सदैव आप ही हो ॥१८॥

सुबोधिनी—**काले** तत्तदवसरे **स्वजना** भक्तजनाः तेषाम **अभिगुप्तये** रक्षार्थं **सत्त्वं बिभर्षि**। यद्यपि सर्वजनपालनार्थं सत्त्वं धृतमेव तथापीदं तस्मादतिरिक्तं येनावतारा जायन्ते। पूर्वमेव गुणानां भेदा निरूपिताः सच्चिदानन्दस्य, प्रकृतेः, अहङ्कारस्य, बुद्धेः, कालस्य चेति। तत्रेदं **सत्त्वं** सद्रूपस्य तेनैव च भक्ता रक्षिता भवन्ति। किंच। **खलनिग्रहाय च**। दैत्यानां नाशाय सर्वपालकं तु तेषां न नाशकं किंतु पालकमेव। **च**कारादन्यान्यपि भक्तिप्रवर्तनादीनि संगृह्यन्ते। तस्य सत्त्वस्य स्वरूपे स्थितस्य स्वरूपधर्मस्य कथं ग्रहणमित्याकाङ्क्षायामाह **स्वलीलयेति**। किंच। तेन सत्त्वेन **वर्णाश्रमात्मा** भूत्वा **पुरातनं** वेदपथं पालयसि बिभर्षि वा। रक्षार्थं हेतुः **पुरातनमिति**। नूतननिर्माणे बह्वन्यथा कर्तव्यं स्यात्। ननु वर्णाश्रमात्मा पुरुषः 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' इति श्रुतेः तत्राह **भवानेव पुरुषः**, यतः **परः**। अनेन ब्राह्मणानां त्वद्रूपत्वात् स्वस्य स्वयं सर्वं भवतीति वचनं समर्थितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—जब वैसा समय आता है, तब भक्तजनों की रक्षा के लिए सत्व गुण को धारण करते हैं, यद्यपि साधारणतया सत्व को धारण ही किया हुआ है जिससे सर्वजनों की पालना हो

रही है, तो भी यह सत्व उससे पृथक् है जिससे अवतार होते हैं। प्रथम ही सच्चिदानन्द, प्रकृति, अहङ्कार, बुद्धि और काल के गुणों के भेद[1] कहे हैं, उसमें यह सत्व सद्रूप है। उससे ही भक्तों की रक्षा होती है, और खल जो दैत्य हैं, उनके नाशार्थ, सर्व पालक तो उनके नाशक नहीं किन्तु पालक ही हैं, 'च' पद से दूसरे भी भक्ति के प्रवृत्त करने वाले कार्य लिए जाते हैं। उस सत्त्व के स्वरूप में स्थित स्वरूप धर्म का ग्रहण कैसे किया जाता है ? इस आकांक्षा में कहते हैं, कि 'स्वलीलया' अपनी लीला से किञ्च उस सत्त्व से वर्णाश्रम की आत्मा हो पुरातन वेद पथ का रक्षण (पालन) करते हैं। पालन अर्थात् रक्षा का हेतु यह है, कि 'पुरातन' है यदि नूतन बनाया जावे तो बहुत दूसरे प्रकार के कार्य करने पड़ें, वर्णाश्रमात्मा तो पुरुष है, मैं तो नहीं, जैसा की श्रुति कहती है 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत पुरुष एवं इदं' जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'भवानेव पुरुष' वह पुरुष आप ही हैं, क्योंकि 'पर' हो, इससे यह सिद्ध किया कि ब्राह्मण आपके ही रूप होने से, अपने ही सब हैं अतः स्वयं ही हैं, इस वचन का समर्थन किया ॥१८॥

आभास—एवं साधारण्येन वर्णाश्रमाणामुक्त्वा ब्राह्मणे विशेषमाहुः **ब्रह्म ते हृदयमिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार साधारण तथा वर्णाश्रमों को कहकर ब्राह्मण वर्ण में 'ब्रह्म ते हृदयं' से विशेषता कहते हैं—

श्लोक—**ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः।**
यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—शुद्ध ब्राह्मण आपके हृदय हैं; क्योंकि उनमें तप, स्वाध्याय और संयम है, जिनसे ब्राह्मणों में सत् रूप ब्रह्म प्रकट होता है, वह सत् ब्रह्म अक्षरात्मक है, उस अक्षर से परे जो पुरुषोत्तम है, वह आप हो ॥१९॥

सुबोधिनी—ब्रह्म ब्राह्मणजातिः। **ते हृदयमन्तरङ्गा** शक्तिः। ताश्च शक्तयस्त्रिविधा भवन्तीति विशेषमाह **शुक्लमिति**। तस्य माहात्म्यमाह **तपः स्वाध्यायसंयमैः** तदङ्गैः कृत्वा। **यत्र** शुक्ले हृदये **सदभिव्यक्तं** सद्रूपं ब्रह्म अभिव्यक्तं भवति। **अव्यक्तं** च जगत्कारणभूतं अक्षरात्मकम्। **चकारादात्मस्वरूपं** च। **ततः परं** पुरुषोत्तममानन्दरूपं वा। तपो वानप्रस्थे, स्वाध्यायो ब्रह्मचर्ये, सयमः पारमहंस्ये, आश्रमत्रय एव सदाद्यभिव्यक्तिरिति नियमः सूचितः ॥१९॥

व्याख्यार्थ—'ब्रह्म' पद से ब्राह्मण जाति कही है, वह जाति आपका हृदय अर्थात् अन्तरङ्ग-शक्ति है, वे शक्तियां तीन[1] प्रकार की होती हैं, विशेष कहते हैं कि 'शुक्ल' उनमें शुक्ल का महात्म्य कहते हैं कि तपस्या, स्वाध्याय और संयम ये उसके अङ्ग हैं, जिस शुक्ल हृदय में सद्रूप ब्रह्म प्रकट होता है, और अव्यक्त, जगत् का कारण, अक्षरात्मक है, 'च' शब्द से आत्मारूप है यों कहा, उससे 'पर' पुरुषोत्तम आनन्द रूप है, तपस्या वानप्रस्थ में, वेद पाठ, ब्रह्मचर्य में, संयम परमहंस अवस्था में, आश्रम त्रय में ही सद् आदि की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार नियम सूचित किए हैं ॥१९॥

१- सत्व, रज, तम ये प्रकृति के गुण हैं, ये गुण गुणावतारों ने उन कार्यों के लिए धारण किए हैं. अहङ्कार के गुण, मन इन्द्रियाँ और भूतों की उत्पत्ति के कारण हैं। बुद्धि के गुण सत्वात्संजायते' ज्ञानं' श्लोक में कहे हैं। काल के गुण युगावतारों में प्रसिद्ध हैं। वर्णात्मत्व 'ब्रह्मानतम्' श्लोक में कहा है, आश्रमात्मत्वं, गृहाश्रमों जघनतः' यह कहा है। वह ही वेद पथ का पालक पुरुष है।

१- शुक्ल, लोहित और कृष्ण। इनमें से 'शुक्ल' ब्राह्मण क्योंकि सात्विक हैं। क्षत्रिय राजस और वैश्य रजो प्रधान होने से लोहित शक्ति हैं। शूद्र तमोगुणी होने से काली शक्ति वाले हैं इसलिए 'अङ्घ्रि' श्रित कृष्ण वर्ण में कहा है। चरणों में आश्रित कृष्ण वर्ण होने से शूद्रों का कृष्ण वर्णत्व कहा है, कृष्ण अर्थात् काला, अशुद्ध हृदय वाला, शूद्र वर्ण है।

आभास—किमतो यद्येवं तत्राह **तस्माद्ब्रह्मकुलमिति**।

आभासार्थ—जो यों हैं, तो इससे क्या जिसका उत्तर 'तस्माद्ब्रह्मकुलं' में देते हैं,

श्लोक—**तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोने त्वमात्मनः।**
सभाजयसि सद्धाम तद्ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे शास्त्र के करण रूप ब्रह्मन्! इस सद्रूप का आश्रय आप होने से, आपकी उपलब्धि (प्राप्ति) के स्थान रूप ब्राह्मण होने से, आप ब्राह्मणों की पूजा करते हो, इससे ब्रह्मण्य लोगों के अग्रणी भी आप ही हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—त्वं ब्रह्मकुलं सभाजयसि तत्रैको हेतुः **सद्धामेति**। सदादीनां धाम स्थानम्। यदुक्तं यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमिति। **धाम** स्फूर्तिराश्रयो वा। **ब्रह्मन्निति** संबोधनं तद्रूपतया हेत्वन्तरमात्मानमेव पालयसीति। पुनरन्यं हेतुमाह **शास्त्रयोन इति**। शास्त्रस्य वेदस्य योनिः कारणं वेदा उत्पादितास्तेषामाधारो ब्राह्मण एवेति तद्रक्षा कर्तव्येत्यर्थः। **शास्त्रयोनेरात्मन इति** वा। तथा सति साधनफले निरूपिते, शास्त्रं साधनमात्मा फलमिति। किंच। तस्मात् **ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान्**। यद्यप्येतत्सर्वमन्यथा भवति तथापि त्वं ब्राह्मणानां हितकार्येव ॥२०॥

व्याख्यार्थ—आप ब्रह्म कुल का आदर सत्कार और पूजन करते हो, इसमें एक कारण है, सद् आदि के धाम हैं, जैसा कि ऊपर के श्लोक में 'यत्रोपलब्धं सद् व्यक्तं' कहा है, धाम पद का अर्थ, स्फूर्ति अथवा आश्रय है। हे ब्रह्मन्! संबोधन देने का दूसरा हेतु यह है कि वह रूप होने से स्वयं का ही पालन करते हैं। फिर दूसरा हेतु कहते हैं, कि वेद के उत्पन्न कर्ता आप हैं, उनको रक्षा करने वाले ब्राह्मण ही हैं। इसलिए उनकी रक्षा करनी चाहिए अथवा 'शास्त्रयोनेः' षष्ठी विभक्ति हो तो उसका अर्थ आत्मनः करना, यों करने पर साधन और फल दोनों कहे, शास्त्र साधन और आत्मा फल, यद्यपि यह सब अन्यथा होता है, तो भी आप ब्राह्मणों के हितकारी ही हैं ॥२०॥

आभास – एवं ब्राह्मणानां भगवतो हितकारित्वं ज्ञात्वा संतुष्टाः सन्तः स्वरक्षक-निधिरद्य प्राप्त इति स्वकृतकृत्यतामाहुः **अद्य नो जन्मसाफल्यमिति** ।

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् ब्राह्मणों के हितकारी हैं यों जानकर सन्तुष्ट हुए और समझे कि हमको आज अपनी रक्षा करने वाली निधि मिली, अतः हम कृतकृत्य हुए हैं जिसका 'अद्य नो' श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—**अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।**
त्वया सङ्गम्य सद्गत्य यदन्तः श्रेयसां परः ।।२१।।

श्लोकार्थ—आज आपका मिलन हुआ । आप सत्पुरुषों की गति हैं, श्रेय में जो सबसे उत्तम श्रेय हैं वे आप हैं । आपके दर्शन से हमारी विद्या, तपश्चर्या और नेत्र सब सफल हुए हैं ।।२१ ।

सुबोधिनी - सज्जन्म ऋषिवंशे तस्य च फलं ब्रह्मप्राप्तिः साद्यसंपन्नेति । **विद्याः** सर्वाः तासां फलं सर्वज्ञता तदितराभिज्ञत्वं पूर्वमपि सिद्धम् भगवल्लीलापरिज्ञानं तु न जातमिति । **तदद्य** जातमिति **विद्यायाः** फलं तपसा हि परंज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजं साक्षात्करोति तच्चाद्यैव जातमिति सर्वथा कृतार्थता । अनघेति संबोधनपाठे न विद्यते अघं यस्मादिति । हे सर्वपापनिवारकेति फलान्तरमपि सूचितम् । अपहतपाप्मत्वेन वा अस्मत्संबन्धेन वा न काचित् क्षतिरिति । अत एव **त्वया सङ्गम्य** जन्मसाफल्यादिकं जातम् । कथभूतेन त्वया **सद्गत्य** सतां गतिः प्राप्यफलम् । स्वरूपस्यैव फलत्वमविकृतत्वं च ज्ञापयितुं स्त्रीलिङ्ग-पदप्रयोगः । साफल्यं साधयन्ति **यदन्तः श्रेयसां परः** इति । यद्यस्मात्कारणाच्छ्रेयसामन्तः परिसमाप्तिः **परः** एतदेव । न ह्यस्मादन्यच्छ्रेयोऽस्तीति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—हमारा ऋषि वंश में सत् जन्म हुआ है, उस का फल ब्रह्म की प्राप्ति है, वह आज पूर्ण हुई है, अर्थात् ब्रह्म प्राप्त हुआ है । सब विद्याएँ उनका फल सर्वज्ञता आदि पहले भी सिद्ध था, किन्तु भगवान् की लीला का परिज्ञान नहीं था, वह आज हुआ है । यह विद्या का फल, तपस्वी तपस्या से परमज्योति स्वरूप भगवान् अधोक्षज का साक्षात्कार करता है वह भी आज हुआ है, यों सर्व प्रकार कृतार्थता हुई है । हे निष्पापी ! हे सर्व पापों के मिटाने वाले यों दूसरा फल भी सूचित किया, जिसके पाप नष्ट हो गए हैं उससे या हमारे सम्बन्ध से, किसी प्रकार की क्षति नहीं है । इसलिए आपसे मिलकर हमारे जन्म की सार्थकता हुई हैं अर्थात् हमारा जन्म लेना सफल हुआ है, आप कैसे हैं ? सत्पुरुषों की गति हो, अर्थात् उनको भी फल रूप आप ही प्राप्त होते हैं, 'गति'[1] शब्द स्त्रीलिङ्ग इस लिए दिया है कि स्वरूप का ही फलपन एवं अविकृत्यपन है अर्थात् प्रभु का इंद्रिय आदि सर्व स्वरूप अविकारी है, अतः फलरूप भी है, साफल्य को सिद्ध करते हैं, कि जितने भी श्रेय हैं उन सब से उत्तम श्रेय **आप ही** हैं जिससे उत्तम को श्रेय नहीं है अतः यह ही पर है ।।२१।।

१– स्त्रियाँ स्वरूप से मोहक है अतः उनका स्वरूप फल रूप है और अविकृतपन भी है, क्योंकि उनको देखकर पुरुषों में विकार होता है, स्त्रियों में नहीं, इसी प्रकार प्रभु स्वरूप सौन्दर्य से फलरूप तो हैं किन्तु अविकारी होने से भी फलरूप हैं ।

आभास—एवं साक्षान्निर्दोषपूर्णगुणत्वं भगवतो निरूप्य श्रद्धातिशयात्तं नमस्यन्ति **नमस्तस्मै भगवत** इति ।

आभासार्थ इस प्रकार भगवान् का निर्दोषपूर्ण गुणत्व निरूपण कर श्रद्धातिशय के कारण 'नमस्तस्मै' श्लोक में उनको नमस्कार करते हैं ।

श्लोक—**नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधशे ।**
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ।।२२।।

श्लोकार्थ - जिनकी मेधा (बुद्धि) अकुण्ठ है और जिसने अपनी महिमा को माया द्वारा छिपा दिया है, वैसे परमात्मा श्रीकृष्ण को हम नमन करते हैं ।।२२।।

सुबोधिनी—स एव कृष्ण इति **कृष्णाय** । ननु ब्रह्मवादे सर्व एव साक्षाद्भगवान् को विशेष इति चेत् तत्राह **अकुण्ठमेधस** इति । न **कुण्ठा मेधा** यस्येति । अन्यत्र रूपान्तरभावे मेधाया अपगमोऽस्ति पश्चात् प्रत्यापत्तौ योजितपटवत् वैलक्षण्यं भवति । भगवति तन्नास्तीति अकुण्ठत्वं नैतज्जीवेषु भवतीति साक्षादविकृतब्रह्मत्वमित्यर्थः । नन्वेवं चेत् कथं सर्वे न विदुः तत्र हेतुमाहुः **स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्न** इति । स्वस्य साधनत्वेन स्वीकृत्या मायया आच्छन्नो महिमा यस्येति । मायापिहितदृष्टयो भगवन्माहात्म्यं न पश्यन्तीत्यर्थः ।

विषयाच्छादन स्वार्थं चेतने नोपपद्यते
अन्यार्थमेव तद्युक्तमात्मस्थे विषयेऽपि च ।

ननु सर्वात्मकत्वाद्भगवतः आत्मानमेव प्रति कथं तिरोधानमिति चेत् तत्राह **परमात्मन** इति । यथा गङ्गातदधिष्ठातृदेवतयोरन्तरमेवमात्मपरमात्मनोर्वैलक्षण्यम् । यथा जले दृष्टेपि गङ्गादेवता न दृष्टा भवति जलाच्च तिरोधत्ते तद्वदित्यर्थः ।।२२।।

व्याख्यार्थ—वह ही श्रीकृष्ण है, इसलिए कृष्णाय' कहा है ब्रह्मवाद में तो सब ही साक्षात् भगवान् हैं कोई विशेष कम नहीं है यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है, कि जिसकी मेधा कुण्ठित नहीं होती है वैसा तो श्रीकृष्ण ही है । इनके सिवाय, दूसरे रूप में मेधा की हानि कभी होती है, पश्चात् फिर मेधा आ जाने से योजित पट की तरह विलक्षणता होती है । उनमें मेधा की सर्वदा समानता नहीं है । भगवान् में यों नहीं है, इसलिए भगवान् की बुद्धि का अकुण्ठत्व कहा है । यह जीवों में नहीं होता है, इसलिए साक्षात् अविकृत, ब्रह्म ही है । ब्रह्मत्व ही अविकृत है, यदि विकृतत्व ब्रह्म में नहीं, सदा समता है तो सब आपको क्यों नहीं जान सकते हैं ? जिसका हेतु कहते हैं कि 'स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने' अपने साधनपन से स्वीकृत माया से अपनी महिमा को छिपा लिया है अर्थात् जिनकी दृष्टि को माया ने आच्छन्न कर दिया हैं वे भगवान् के महात्म्य को नहीं देख सकते हैं ।

अपने लिए विषय का आच्छादन चेतन (ब्रह्म) में नहीं बनता है विषय आत्मा में स्थित होते हुए भी वह आच्छादन दूसरों के लिए करना उचित है ।

भगवान् सर्वात्मा हैं अपने प्रति ही कैसे आच्छादन[1] ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, कि जैसे जल रूप गङ्गा और देवता रूप गङ्गा का परस्पर अन्तर है वैसे ही आत्मा और परमात्मा में भी विलक्षणता है जैसे जल के देखते हुए भी गङ्गा देवता के दर्शन नहीं होते हैं, वह जल से तिरोहित है वैसे ही परमात्मा भी ॥२२॥

आभास—अत एव न केपि जानन्तीत्याह **न यं विदन्ती**ति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही इनको कोई भी नहीं जान सकता है यों 'न यं विदन्ति' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।**
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—ये भूपति तथा साथ में रहने एवं खेलने वाले यादव भी जिसको नहीं जान सके हैं, क्योंकि उस आत्मारूप कालरूप एवं ईश्वर रूप ने अपने को मायारूप पट (पर्दे) से छिपा लिया है ॥२३॥

सुबोधिनी—**अमी** विद्यमाना **भूपाः** यदि जानीयुस्तदा नैनं व्यवहारं कुर्युरिति । तेषां सङ्गो नास्तीति न वक्तव्यं यत **एकारामाः** । **च**काराज्जन्मप्रभृति सर्वाः क्रियाः एकत्रेति निरूपितम् । **वृष्णयश्च** तथात्वेन प्रसिद्धाः । तथापि न **विदन्ति** । तत्र हेतुं स्मारयन्ति **मायाजवनिकाच्छन्न**मिति पुत्रोयं भ्राता पितेत्यादिबुद्धिहेतुभूतया मायया नाट्ये आवश्यकरूपया जवनिकया आच्छन्नम् । ननु ते हीनाः स्वभावत एव भगवन्तं न ज्ञास्यन्ति किमाच्छादनेनेति चेत् तत्राह **आत्मान**मिति । अनेन तेषां संसारोपि न भवेदिति लीलाबाधोपि निरूपितः । किंच । कालोयं यद्यात्मानं ज्ञापयेत् तदा ते मारिता न भवेयुरिति । किंच । **ईश्वरो**ऽयम् । ईश्वरास्तु गुप्ता एव तिष्ठन्तीति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—ये राजा जिसके स्वरूप को नहीं जानते हैं, यदि जानते हैं तो उनके साथ इस प्रकार का व्यवहार नहीं करते, उनका दोष नहीं, क्योंकि उनको इनके साथ सङ्ग नहीं है, यह आपका कहना भी व्यर्थ है क्योंकि 'एकारामाः' एक ही स्थान पर आराम करने वाले हैं 'च' पद से बताया है कि जन्म से लेकर सब क्रियाएँ एक ही स्थान पर साथ में रहते ही करते थे यादव भी वैसे ही करते थे यह प्रसिद्ध ही है, यों साथ रहते हुए भी नहीं जानते हैं, उस हेतु की याद दिलवाते हैं कि 'मायाजवनिकाच्छन्न' यह मेरा पुत्र है, यह भाई है, यह पिता इसी प्रकार की बुद्धि कराने वाली माया से छिपे हुए हैं । वे तो स्वभाव से हीन हैं, अतः भगवान् को नहीं जान सकते हैं । मायारूप आच्छादन की क्या आवश्यकता है ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है, कि 'आत्मानं'

१— भगवान् अपनी शक्ति से जो आच्छादन करते हैं, वह अपने लिए नहीं किन्तु दूसरे मेरे स्वरूप को न देख सकें, इसलिए करते हैं ।

आत्मारूप अपने को, इससे उनको संसार का बाध भी न होवे, यों लीला का बाध निरूपण किया, इस समय यह कालरूप हैं, यदि अपने को जनावे तो वे मारे नहीं जावे, विशेष में ये ईश्वर हैं, ईश्वर तो गुप्त ही रहते हैं यों ॥२३॥

आभास—नन्वात्मत्वे व्यवधानाभावत् कथमेते न ज्ञातवन्तस्तत्राह **यथा शयान** इति ।

आभासार्थ—जब सब आत्मा हैं, तब व्यवधान हो नहीं सकता है तो दूसरे क्यों नहीं जान सकते हैं ? इसका उत्तर 'यथा शयान' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—**यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।**
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—जैसे सोया हुआ पुरुष, नाम, विषय और इन्द्रियों में सत्यता मानता है, कारण, कि स्वप्न में उसको आत्मा का अनुभव नहीं होता है किन्तु नाम, विषय और इन्द्रियों को ही आत्मा समझता है वह आत्मा भास है, इससे परमात्मा को नहीं जान सकता है ॥२४॥

सुबोधिनी—यथा निद्रा आत्मज्ञाने व्यवधायिका तथा अविद्या माया वा भगवदीया तेषामात्माज्ञाने हेतुरिति वक्तुं मायाजवनिकाच्छन्नत्वेन निरूपितमपि प्रकारभेदेन निरूपयितुमिदमुच्यते । **यथा शयानः पुरुष आत्मानं नाममात्रेन्द्रियेष्वेव आभातं वेद न** तु ततः **परम्** । तत्र हेतुः **गुणतत्त्वदृ**गिति । **गुणेषु** स्वप्नप्रतिभातविषयेषु **तत्त्वदृक्** परमार्थबुद्धिः । यदि ज्ञानीयादेते अपरमार्थाः इदानीमनुभूयमानदेहक्रियासहिताः तदा जाग्रदवस्थमात्मानं जानीयादेव । नन्वात्मानुभवस्तत्राप्यस्तीति चेत् सत्यम् । तथापि **नाम** तदानींतनं देवदत्तादिरूपं, **मात्रा** विषयाः, **इन्द्रियाणि** च तेष्वेव **आभातः** । त एव अहंतया गृहीता इति आत्माभासप्रतीतिरेव न त्वात्मप्रतीतिरित्यर्थः । उभयं निषेधयन्ति **न वेद रहितं पर**मिति । पूर्वोक्तनामादि**रहितं** तदवस्थातोऽपि च **परं न वेद** ॥२४॥

व्याख्यार्थ—जैसे नींद आत्म ज्ञान में रुकावट है, वैसे ही अविद्या अथवा भगवदीया माया, उनकी आत्मा के **अज्ञान** में हेतु है, यों कहने के लिए कि माया के पर्दे से आत्मा आच्छन्न है, इसको दूसरे प्रकार से दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कहते हैं, कि जैसे सोया हुआ पुरुष आत्मा के नाम, विषय और इन्द्रियों में ही प्रतीति करता है, **उससे** परे कुछ नहीं जानता है, यों जानने में हेतु कहते हैं कि 'गुणतत्त्वदृक्' स्वप्न में देखे हुए विषयों में ही परमार्थ बुद्धिवाला होता है, जो जान जावे, कि ये जो अब देह क्रिया सहित अनुभव में आ रहे हैं वे सब झूठे हैं तो जाग्रत् अवस्थावाली आत्मा को पहचाने ही यदि कहो कि वहाँ भी आत्मानुभव है ? जो वह सत्य है, तो भी नाम अर्थात् उस समय के देवदत्त आदि रूप, विषय और इन्द्रियाँ उतने में ही आभासित होने से वे ही अहंता के कारण ग्रहण किए हैं इस प्रकार आत्मा भास की ही प्रतीति है, न कि आत्मा की प्रतीति है, दोनों

का निषेध करते हुए कहते हैं, कि 'न वेद रहितं परम' पूर्व कहे हुए नाम आदि से रहित जो परमात्मा है, उसको वह शयन करने वाला नहीं जानता है ।।२४।।

आभास—एवं दृष्टान्तमुपपाद्य दार्ष्टान्तिके योजयति **एवं त्वाऽयमिति** ।

आभासार्थ--इस प्रकार दृष्टान्त कहकर 'एवं त्वाऽयं' श्लोक में दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं ।

श्लोक—**एवं त्वाऽयं जनो ब्रह्मन् नाममात्रेन्द्रियेहया ।**
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ।।२५।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! जैसे स्वप्न के देह की आत्मा यह देह है, वैसी ही इस देह की आत्मा भगवान् है, नाम विषय और इन्द्रियों की माया से चित्त भ्रम में पड़ जाता है, जिससे आपको नहीं जान सकता है । जीव की स्मृति जन्म और मरण के चक्र में फिरने से नष्ट हो जाती है, जिससे वह, यह ही है, यों नहीं जान सकता है ।।२५।।

सुबोधिनी –यथा स्वप्नसंघातस्यायं संघात आत्मा तथास्य भगवान् । अत एव भगवतः अज्ञानं न च वक्तव्यं स्वप्ने अयं देहो न स्थितः ततो वैलक्षण्यमिति । तर्हि क्व गतः तत्रैवाधारे तस्य प्रपञ्चस्योत्पन्नत्वात् अन्यथा तच्चलाने तदपगमो न स्यात् । तथापि न स पृथग्भासते इति चेत्तस्य परिच्छन्नत्वात् तत्स्थानीयमन्यच्च स्वीकृतवानीति । असमर्थत्वात्तस्यभानम् । भगवतस्तु व्यापकत्वात् सर्वसमर्थत्वात् पृथगप्यभानमेतावान् विशेषः । अज्ञानं तु तुल्यमेव तदाह **नाममात्रेन्द्रियेहया** नाममात्रेन्द्रियेषु चलनादन्यथाबुद्धिकारिण्या आत्मबुद्धिमुत्पादयन्त्या **विशेषेण भ्रमच्चित्तः त्वा** परमार्थतं आत्मानं **न वेद** । अनेनात्मपरमात्मभावभेदानङ्गीकारेपि भगवदज्ञानं समर्थितम् । नन्वनादिसिद्धत्वात्संसारस्य गुरुशास्त्रतपोभिः कदाचिद्भगवदनुभवः संभवति आत्मानुभवो वा । तत इदानीं भगवन्तं दृष्ट्वा सोयमिति कथं न प्रतीतिस्तत्राह **स्मृत्युपप्लवा**दिति । जन्ममरण देना स्मृतिनाशात् ।।२५।।

व्याख्यार्थ—जैसे स्वाप्निक देह की आत्मा यह देह है, वैसे ही इस देह की आत्मा भगवान् है, इस कारण से भगवान् का अज्ञान नहीं कहना चाहिए, क्योंकि स्वप्न में यह देह ही नहीं है, इससे विलक्षणता है, यदि देह नहीं है तो देह कहाँ गई ? उसके आधार पर तो उस स्वाप्निक प्रपञ्च की उत्पत्ति है, अन्यथा उसके चलाने में उसका जाना नहीं हो सके, तो भी वह पृथक् नहीं भासता है ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि वह परिच्छिन्न है इसलिए उसका स्थानीय दूसरा स्वीकार किया है । यों, असमर्थ होने से उसका भान नहीं होता है, भगवान् तो व्यापक और सर्व समर्थ हैं इसलिए पृथक् भी उनका भान हो सकता है, इतना भगवान् में जीव से विशेषता है. अज्ञान तो तुल्य है, वह बताते हैं, कि नाम, विषय और इन्द्रियों में ही चलने से उनमें ही आत्म बुद्धि उत्पादन करने वाली एवं अन्यथा बुद्धि करने वाली चेष्टा से जिसका चित्त भ्रमित हो गया है, वह परमार्थ से आत्मस्वरूप आपको नहीं जानता है, इससे आत्मा और परमात्मा के भाव में भेद

अङ्गीकार न करते हुए भी भगवान् के अज्ञान का समर्थन किया है । संसार अनादि सिद्ध होने, से गुरु शास्त्र और तपस्याओं से कदाचित् भगवान् का अनुभव सम्भव है अथवा आत्मानुभव भी संभव है, इस कारण से अभी भगवान् को देखकर भी 'वह यही है', यों प्रतीति क्यों नहीं होती है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि, जीव की स्मृति, जन्म और मरण के चक्र में बारबार फिरने से नष्ट हो जाती है ।।२५।।

आभास—तादृशोयमद्य दृष्ट इति स्वकृतार्थतामनूद्य कृपां प्रार्थयन्ते **तस्याद्येति** ।

आभासार्थ—वैसे जो आप हैं उनका आज दर्शन किया अतः अपनो कृतार्थता कहकर 'तस्याद्य' श्लोक से कृपा करने के लिए प्रार्थना करते हैं-

श्लोक—**तस्याद्य ते दद्दशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष**
तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।
उत्सिक्तभक्त्युपहृताशयजीवकोशा
आपुर्भवद्गतिमथोनुगृहाण भक्तान् ।।२६।।

श्लोकार्थ पाप पटल (समुह) को नाश करने वाली, गङ्गाजी के उत्पत्ति स्थान परिपक्व योग वाले योगी जन भी जिनका केवल हृदय में चिन्तन कर सकते हैं, उन आपके चरणारविन्द का बहुत पुन्यों के प्रताप से आज प्रत्यक्ष दर्शन हुआ है, सो हमें भक्त जानकर अनुग्रह कीजिए, भक्ति के सिवाय आपके चरण की प्राप्ति नहीं होती है, वृद्धिगत भक्ति से ही जिनके लिङ्ग आदि का नाश हो गया है वे ही आपको प्राप्त कर सकते हैं ।।२६।।

सुबोधिनी यः कदाचिदपि नोपलब्धः यः फलं सर्वं च स दृष्ट एव । तत्रापि यथा सर्वदा दर्शनं भवति तेनोपायेन सहितो दृष्ट इति ज्ञापनार्थं **तस्याङ्घ्रि ददृशिमेत्युक्तम्** चरणस्य सर्वदा साक्षात्कारहेतुत्वे प्रकारमाह **अघौघमर्षमित्यादित्रिभिर्विशेषणैः** । मलापकर्षणं पूर्वं शुद्धचादिगुणयोजनम् । ततश्च फलरूपं च योगसाधनभावितम् । अघौघस्य पापसमूहस्य मर्षं मृषात्वं **यस्मात्**, मर्षणं शोधनं वा । किंच । **तीर्थास्पदं** गङ्गादीनामुत्पत्तिस्थानं ततो योगसिद्धैर्हृदि फलत्वेन कृतं, एतादृशं चेत् प्राप्ताः तदा क्रमेण हृदि स्थितो भविष्यतीति तेनाग्रे सर्वं सेत्स्यतीति स्वभाग्याभिनन्दनम् । ननु कथमग्रे भवन्तो मुक्ता भविष्यन्तीति चेत्तं प्रकारमाहुः **उत्सिक्तेति** । उत्सिक्ता या भक्तिः मर्यादामुल्लङ्घ्य अधिका जाता तया कृत्वा **उपहृता** भगवते समर्पिता **आशयजीवकोशाः** अन्तःकरणात्मसंघाताः यैः । संघातादात्मा तदुपाधिश्च पृथक्कृत्य निरूपितौ आन्तरत्वज्ञापनाय । आशय एव वा **जीवकोशः** एवमुपाधिसमर्पणे केवला वयं **भवद्गतिमापुः** । 'आशंसायां भूतवच्च' इति प्राप्स्याम इति लृटि प्रयोक्तव्ये लिट्प्रयोगः । **अथ** अस्मात्त्वदीया एवेति **भक्तान्** अस्मान् **अनुगृहाण** आत्मसात्कुर्विति प्रार्थना ।।२६।।

व्याख्यार्थ--जो कभी भी नहीं पाया और जो सर्व फल है, वह आज देखा हो है, इसमें भी जैसे सर्वथा दर्शन होता है, उस उपाय सहित देखा है यों जताने के लिए कहा है कि 'तस्याघ्रि दद्दशिमे' उनके चरणारविन्द को देखा है, सर्वदा साक्षात्कार हेतु पन में चरण का तीन विशेषणों से प्रकार कहते हैं—

मलापकर्षणं[1] पूर्वशुद्धयादि गुण योजनम्
ततश्चफलरूपं च योग साधनभावितम्

कि जिससे पाप समूह का नाश हो जाता है, शुद्धि आदि हो जाती है किञ्च गङ्गा आदि तीर्थों की उत्पत्ति स्थान, तत्पश्चात् जिनका योग सिद्ध हो गया है उन्होंने हृदय में फलरूप जानकर धर लिए हैं, वैसे चरणों को जो हम प्राप्त हुए हैं अर्थात् पा सकें है, तो क्रम से हृदय में विराजेंगे, इससे आगे सब सिद्ध होगा। यों कहकर अपने भाग्य का अभिनन्दन किया है, तुम आगे कैसे मुक्त होवोगे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए, उसका प्रकार बताते हैं. मर्यादा का उल्लङ्घन कर जो भक्ति बढेगी उससे अपने आशय जीव कोश आदि सर्व भगवान् को अर्पित हो जायेंगे, संघात से आत्मा और उसकी उपाधि दोनों आन्तरपन के जताने के लिए पृथक् कर निरूपण किए हैं, अथवा आशय ही जीवकोश है, इस प्रकार उपाधि समर्पण कर देने से आशा है, कि हम केवल भगवद्गति को प्राप्त होंगे 'आशंसायां भूतवच्च' इस नियमानुसार 'आपुः' यह लिट् लकार लृट के स्थान पर दिया है, 'अथ' पद का आशय है कि हम आपके ही भक्त हैं, इसलिए हम भक्तों पर कृपा कर अपना लीजिए यह प्रार्थना है ।।२६।।

आभास—एवं प्रार्थयित्वा तूष्णीमेवाङ्गीकारे कृतार्थत्वं ज्ञात्वा गन्तुमारेभिर इत्याह **इत्यनुज्ञाप्येति** ।

आभासार्थ—यों प्रार्थना की, भगवान् मौन रहे जिससे मुनियों ने समझा कि हमारी प्रार्थना भगवान् ने स्वीकार की है यों समझ वहां से जाने की तैयारी की जिसका वर्णन 'इत्यनुज्ञाप्य' श्लोक में शुकदेवजी करते हैं–

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।**
राजर्षे स्वाश्रमान् गन्तुं मुनियो दधिरे मनः ।।२७।।

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी ने कहा, कि हे राजर्षि ! भगवान् से, धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर मुनियों ने अपने आश्रम को जाने का मन किया ।।२७।।

सुबोधिनी—**दाशार्हं** सेवकप्रियं ततो भक्तैरप्यनुज्ञाता इत्याह **धृतराष्ट्रं युधिष्ठिर**मिति । वृद्धभक्तौ निरूपितौ । विश्वासार्थं संबोधनम् । ततः **स्वाश्रमान् गन्तुं मनो दधिरे** ।।२७।।

१– अर्थः—पहले मल का छूटना, फिर जिससे शुद्धि आदि गुणों को युक्त करना पुनः योग साधन भावित फलरूप है ।

व्याख्यार्थ – पहले सेवक जिनको प्यारे हैं, वैसे श्रीकृष्ण से और इनके भक्त धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठर से जाने की आज्ञा ली, धृतराष्ट्र और युधिष्ठर दोनों वृद्ध और भक्त कहे, संबोधन 'राजर्षे' विश्वास के लिए दिया है, प्रश्चात् अपने आश्रम को तरफ जाने का मन किया ।।२७।।

आभास—एवं निवृत्तिपराणां फलसिद्धिमुक्त्वा प्रवृत्तिपराणामपि फलसिद्धयर्थं प्रक्रियान्तरमारदीक्ष्येति ।

आभासार्थ--इस प्रकार निवृत्ति परायण मुनियों की फल सिद्धि कह कर प्रवृत्ति के परायणों की फल सिद्धि के लिए अन्य प्रकार 'तद्वीक्ष्य' श्लोक में कहते हैं,

श्लोक—**तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशाः ।**
प्रणम्य चोपसंगम्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ।।२८।।

श्लोकार्थ—यह सब देख, जब उन्होंने जाने का मन किया तब उनके निकट महा यशस्वी वसुदेव आकर प्रणाम कर विनय से यों कहने लगे ।।२८।।

सुबोधिनी—**वसुदेवो** हि तानुत्कृष्टान् जानाति अतः स्वकृतार्थत्वाय तान् प्रष्टुं यतते । अस्तानुपव्रज्य । तस्यैवं स्वनिस्तारार्थं यत्ने पूर्वसिद्धं हेतुमाह **महायशा** इति । महद् यशो यस्येति कथनार्थं दृष्टमप्युपायं कृतवानित्याह **प्रणम्येति** । चकारात्स्तोत्रमपि कृत्वा । **उपसंगम्य** निकटे समागत्य । **सुयन्त्रितः** सन् वक्ष्यमाणमिदं **बभाषे** । सन्धिरार्षः ।।२८।।

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी उन ऋषियों को उत्तम जानते हैं, अतः अपने को कृतार्थ करने के लिए उनसे पूछने का प्रयत्न करते हैं, अतः उनके निकट आकर नमस्कार कर एवं स्तुति कर विनयी हो निम्न श्लोक से पूछने लगे। वसुदेवजी ने अपने निस्तार के लिए जो यत्न किया उसका कारण है, कि वह महान् यशस्वी थे यों कहने के लिए दृष्ट उपाय भी कहा कि प्रणाम, स्तुति और विनय भी की, जिनसे उसका महान् यशस्वी होना सिद्ध किया है ।२८।।

आभास—विज्ञापनामाह **नमो वः सर्वदेवेभ्य** इति ।

आभासार्थ—'नमो वः सर्वदेवेभ्य' श्लोक से प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—वसुदेव उवाच—**नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ।**
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ।।२९।।

श्लोकार्थ—वसुदेवजी कहने लगे, कि हे ऋषियों ? सब देवों के निवासरूप आपको मैं प्रणाम करता हूँ, मेरी प्रार्थना सुनने के लिए योग्य हो वह कर्म करने का प्रकार बताईए, जिस भाँति कर्म करने से कर्म नाश हो ।।२९।।

सुबोधिनी—यद्यप्येते ऋषयः तथापि सर्वे देवा येष्विति 'यावतीर्वै देवताः' इत्यादिश्रुतेः सर्वदेवत्वम् । अनेन देवा भवदधीना इति स्तुतिरप्युक्ता । हे **ऋषयः** अलौकिकद्रष्टारः अतो मत्स्वरूपं जानन्तीति विज्ञापितम् **श्रोतुमर्हथ** । तदेवाहुः **कर्मणा कर्मनिर्हार इति** । अयमाशयः । ज्ञानेन कर्मनाशः सुप्रसिद्धः 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' इति वाक्यात् । कर्म तु सजातीयं न व्यावर्तयति । यद्यपि प्रायश्चित्तो कर्मनाशकत्वं निरूपित तथापि न तत्कर्म । अकर्म कर्म नाशयति विपरीतं वा । निषिद्धं विधिबलाद्विहितं नाशयति यथा प्रायश्चित्तं यथा वा नखाम्बु पूर्वपुण्यं नाशयति तथापि सजातीयस्य न सजातीयनाशकत्वम् । नखादिषु नखाम्बुप्रभृतिषु कर्मनाशः अधर्मजननद्वारा तेन स नाशः दुःखमेव संपादयति न संसारनिवृत्तिम् । अन्यथा महान्तो ज्ञानवत्तत्रापि यतेन् । अतस्तादृशी कर्मनिवृत्तिरपेक्ष्यते यस्यां जातायां संसार एव निवर्तते । यदि संसारनिवृत्तिमेव प्रार्थयेत् तदा ज्ञानादिकमेवोपदिशेयुः । ज्ञानं तु न गृहस्थस्येति मन्यते 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इति वाक्यात् । अतः कर्मणैव केनचित्प्रकारेण कृतेन यथा संसारहेतुभूतकर्मनाशः तथा वक्तव्यमित्याह **नस्तद्वच्यता**मिति । अत्र पुनः ऋषाणां पूर्ववत्संदेह उत्पन्नः । यथा भगवान् ईश्वरः सन् विपरीतवाक्यमुक्तवान् । तस्य च भावो यथाकथंचिद्वर्णितः । एवं वसुदेवोपि मुक्त एव सिद्धसमस्तपुरुषार्थ एव विपरीतवत् पूर्वं कर्मनिर्हारं पृच्छति । केनाभिप्रायेणेति किमस्मज्ज्ञानं परीक्ष्यते आहोस्विदन्यथेति ॥२९॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि ये ऋषि हैं, तो भी 'यावतीर्वै देवताः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार इनमें सब देव स्थित हैं, यों कहने से यह सिद्ध किया है कि देव आपके आधीन हैं, जिससे ऋषियों की स्तुति भी की है । हे ऋषयः ! इस सम्बोधन के देने से यह दिखाया है कि आप अलौकिक को देखने वाले हैं, अतः मेरे स्वरूप को आप जानते ही हैं, इसलिए कहता हूं, कि जो मैं प्रार्थना करूंगा, उसको सुनने के योग्य आप हो अतः ध्यान देकर सुनोगे । वह प्रार्थना कहते हैं, कि जैसे कर्म से कर्म का नाश हो जाय वह कर्म करने का उपाय बताईये, ज्ञान से तो कर्म का नाश सुप्रसिद्ध ही है, जिससे 'ज्ञानाग्निःसर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुनं' यह गीता का वचन प्रमाण है, कर्म अपने सजातीय कर्म को नष्ट नहीं कर सकता है । यद्यपि प्रायश्चित करने से कर्म का नाश होता है, किन्तु वह कर्म नहीं है । अकर्म कर्म को नाश करता है या विपरीत करता है, विधि के बल से विहित कर्म, निषिद्ध कर्म को नाश करता है, जैसे प्रायश्चित, अथवा जैसे नखों का जल पूर्व पुण्य को नाश करता है, तो भी सजातोय, सजातीय का नाश नहीं कर सकता है । नखों के जल आदि में कर्म नाश की शक्ति इस लिए हैं कि पाप अधर्म से उत्पन्न होता है अतः उस पाप को नख जल नाश करता है इसी से वह नाश दुःख ही सम्पादन करता है, संसार की निवृत्ति नहीं करता है । यदि यों न होता तो महान् पुरुष ज्ञान की तरह यों करने का प्रयत्न करने लग जावे, अतः वैसी कर्म निवृत्ति की मुझे अपेक्षा है जिसके होने से ससार ही मिट जावे । यदि संसार की निवृत्ति की ही प्रार्थना करते, तो ज्ञानादिक का ही उपदेश दे देते । ज्ञान तो गृहस्थी को सिद्ध नहीं हो सकता है, इस लिए वसुदेवजी ने ऐसी प्रार्थना ही नहीं की है, और ऋषियों ने भी ऐसा समझ ज्ञानोपदेश सार्थक न समझा क्योंकि गृहस्थ के लिये ही अर्जुन को कहा कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' तेरा कर्म का ही अधिकार हैं, इसलिए किसी प्रकार किए हुए कर्म से ही संसार का हेतुभूत कर्म का नाश हो वह कर्म करने का उपाय मुझे कहिए इस प्रकार के वसुदेवजी के प्रश्न करने पर ऋषियों को फिर पहले की तरह संदेह हुआ कि, जैसे ईश्वर होते हुए भी भगवान् ने विपरीत वाक्य कहे, और उसका भाव थोडा सा वर्णन भी किया है इसी प्रकार वसुदेवजी भी मुक्त ही हैं, समस्त पुरुषार्थ सिद्धि

वाले हैं, फिर विपरीत की भाँति प्रथम कर्म का नाश पूछते हैं, किस अभिप्राय से पूछते हैं ? क्या हमारी परीक्षा लेते हैं ? अथवा दूसरा कोई कारण है ॥२९॥

***आभास*—एवं ऋषीणां संदेहं ज्ञात्वा नारदः स्वयमाह नापि चित्रमिदं विप्रा** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ऋषियों को संदेह हुआ है यों जान कर नारदजी स्वयं 'नापिचित्रमिदं विप्रा' श्लोक में इनकी शङ्का निवृत्त करते हैं—

श्लोक—नापि चित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया ।
कृष्णं मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥३०॥

श्लोकार्थ—नारदजी ने कहा कि, हे विप्रों ! श्रीकृष्ण को अपना पुत्र जानकर, वसुदेवजी अपने कल्याण के साधन जानने की इच्छा से, अपने से प्रश्न कर रहे हैं, इसमें कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है ॥३०॥

सुबोधिनी—इदं वसुदेववाक्यं, **नापि चित्रम्** । **अपि**शब्दाद्गम्भीरार्थमपि न । **विप्राः** इति भवन्तः पूरका इति स्वपूर्त्यर्थमेव तदाह **बुभुत्सया**येति । ननु बुभुत्सामात्रं चेत्प्रयोजनं तदा कृष्णः किं न पृष्ट इति चेत् तत्राह **कृष्णं मत्वार्भकं यन्न** इति । स्वोत्पन्नः स्वाज्ञातं कथं ज्ञास्यतीति । किंच : ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति न्यायेन वसुदेवदृष्टौ बालक एव प्रतिभाति । अत एव **नोऽस्मान्** स्थूलान् पण्डितानिति ज्ञात्वा **पृच्छति** ॥३०॥

व्याख्यार्थ—यह वसुदेवजी का वाक्य आश्चर्य करने वाला नहीं हैं, 'अपि' शब्द से यह कहा है, कि गम्भीर अर्थ वाला भी नहीं है, अपने कल्याण के साधन को जानने की इच्छा से आपसे पूछा है, क्योंकि आप विप्र हैं अर्थात् उनको कामना के पूरक हैं, इसलिए आप से प्रश्न किया है, यदि कहो, कि केवल जानने की इच्छा से ही पूछा है, तो श्रीकृष्ण से क्यों नहीं पूछ लिया ? जिसका उत्तर नारदजी ने दिया है कि वे श्रीकृष्ण को अपना पुत्र मानते हैं, मुझसे उत्पन्न हुआ बालक, जो मैं नहीं जानता हूँ, वह कैसे जानता होगा ? किञ्च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस वचन के अनुसार वसुदेवजी की दृष्टि में वे बालक ही दीखते हैं अतएव हमको, स्थूल पंडित, अर्थात् बड़े ज्ञानी, जान कर ही हमसे पूछ रहे हैं ॥३०॥

***आभास*—ननु जानाति भगवान् सर्वेश्वर इति तत्राह सन्निकर्षोत्र मर्त्यानामिति ।**

आभासार्थ—वसुदेवजी यों जानते हैं कि कृष्ण, सर्वेश्वर भगवान् हैं, जिसका उत्तर 'संनिकर्षोऽत्र मर्त्यानां श्लोक में देते हैं ,

श्लोक—संनिकर्षोत्र मर्त्यानामनादरणकारणम् ।
गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥३१॥

श्लोकार्थ—इस जगत् में निकट रहना, अनादर का कारण है। देखो गङ्गा पर रहने वाले गङ्गा के जल के महात्म्य को न जानकर शुद्धि के लिए दूसरे जल से स्नान करने के लिए जाते हैं ।।३१।।

सुबोधिनी—अनादरे **संनिकर्ष** एव कारणम्। **मर्त्यानामिति**। मरणधर्माणः ते जानन्ति सर्व एव मर्त्याः को विशेष इति । आत्मवत्सर्वदर्शनादनादरः। असंभावितं मत्वा दृष्टान्तमाह **गाङ्गं हित्वेति**। **तत्रत्यो** जनः गङ्गातीरस्थः। **शुद्धय** इति गङ्गातीरे संमर्दे स्नातः अशुद्धोऽहं जातः गृहे स्नास्यामीति मत्वा यथा पुनः गृहे स्नाति तदुक्तं **शुद्धय** इति, स हि गङ्गाजलमपि जसत्वेनैव मन्यते न तु तन्माहात्म्यं वेद ।।३१।।

व्याख्यार्थ अनादर का कारण निकट रहना ही है, मनुष्य यों जानते हैं कि मनुष्य देह धारी सब ही मरने वाले हैं तो विशेष कौन है? सब एक सामान ही हैं, इसलिए अनादर है, असंभावित (विशेष उत्तमता नहीं है) यों मानकर अनादर करते हैं, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, गङ्गा पर रहने वाला, गङ्गाजी के प्रवाह में स्नान कर के भी, फिर अपने को अशुद्ध समझने से घर में आकर दूसरे जल से स्नान करता है, तब शुद्ध समझता है इस लिए 'शुद्धये' कहा है, जिसका कारण यह है कि वह गङ्गा पर रहने वाला गङ्गा जल को भी साधारण जल मानता है, उसके माहत्म्य को नहीं जानता है ।।३१।।

आभास—स्वयं भगवन्माहात्म्यमाह **यस्यानुभूतिरिति**।

आभासार्थ—स्वयं नारद, भगवान् का माहात्म्य 'यस्यानुभूति' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—**यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनाऽस्य वै ।**
स्वतोऽन्यस्माच्चः गुणतो न कुतश्चन रिष्यति ।।३२।।

श्लोकार्थ—*जिनका ज्ञान, किसी काल में, (प्रलय होने पर भी) इस जगत् की उत्पत्ति और प्रलय आदि करने से, आप से, दूसरे से, गुणान्तर होने से भी, किसी से* नाश नहीं होता है ।३२।।

सुबोधिनी—ऋषयस्तु शास्त्रादिना संजातज्ञानाः तथापि छिन्नयोजितपटवत् न तज्ज्ञानमुत्कृष्टं भगवतस्तु ज्ञानस्य न कदाचिदपि विच्छेदः। तमेवाह **कालेन** प्रलयेन। **यस्यानुभूतिरनुभवः**। **न रिष्यति** न नश्यति। प्रलयमध्येऽपि नाशसंभवात् तानपि हेतून् निषेधति **लयोत्पत्त्यादिनेति**। यदा प्राणी म्रियते तदा पूर्वानुभवो नश्यति, यदापि उत्पद्यते तदापि लोकान्तरानुभवो नश्यति। एवं महाव्याध्यपस्मारादिनापि पूर्वानुभवनाशः तदेकमपि भगवति न संभवति। कदाचित्**स्वतोऽप्यनुभवो** नश्यति। यदा संस्कारं नोत्पादयति। कार्यकारणयोरभेदात् एवं वचनम्। **अन्यस्मात्** द्रव्यान्तरशापादिना। **च**कारात्कालविलम्बेन विरोधज्ञानाविर्भावेन च। **गुणतो** रजस्तमः प्रादुर्भावात्। अनुक्तपरिग्रहार्थं **न कुतश्चनेति** ।।३२।।

व्याख्यार्थ—ऋषियों को ज्ञान तो शास्त्र आदि से प्राप्त हुवा है, तो भी वह ज्ञान फटे कपड़े को फिर सीं कर जोड़ने के समान होने से उत्कृष्ट ज्ञान नहीं है, भगवान् का ज्ञान तो कभी भी टूटता नहीं है, उसका वर्णन करते हैं; प्रलय से जिसका अनुभव नाश नहीं होता है, जिन लय उत्पत्त्यादि हेतुओं से प्रलय में अनुभव का नाश होता है उनका भी निषेध करते हैं कि लय और उत्पत्ति आदि से भी ज्ञान नष्ट नहीं होता है, जब प्राणी मरता है तब पहला[1] अनुभव नाश हो जाता है, जब भी फिर उत्पन्न होता है तब भी लोकान्तर में किया हुआ अनुभव नाश हो जाता है इसी तरह महाव्याधि अपस्मार आदि से भी पूर्व अनुभव का नाश होता है, वह एक भी भगवान् में नहीं होता है, कभी स्वतः भी अनुभव का नाश हो जाता है, जब संस्कार को उत्पादन नहीं करता है, कार्य और कारण के अभेद होने से ऐसा वचन है। दूसरी तरह से, अर्थात् द्रव्यान्तर अथवा शापादि से भी अनुभव नष्ट होता है च' पद से यह बताया है कि बहुत काल हो जाने से विरुद्ध ज्ञान के उत्पन्न होने से, भी अनुभव नष्ट होता है। 'गुणतो' रजो तमो गुण के प्रगट होने से भी अनुभव नाश होता है। अन्त में 'न कुतश्चन' पद से यह बताया है कि उपर्युक्त कारणों से और जो नहीं कहे हुए हैं उन सब से भगवान् का ज्ञान नष्ट नहीं होता हैं, ऋषि आदि जीव मात्र का कारणों से अनुभव नाश हो जाता है ।।३२।।

आभास—एवं भगवन्माहात्म्यमुक्त्वा तन्न जानातीति वसुदेवदोषमाह **तं क्लेशेति**।

आभासार्थ यों भगवान् के महात्म्य का वर्णन कर, उसको वसुदेवजी ही जानते हैं, अतः उसका दोष 'तंक्लेश' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक **तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै-**
रव्याकृतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।
प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो
मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ।।३३।।

श्लोकार्थ—जैसे मनुष्य सूर्य को बादलों से आच्छादित,हिम(पाले) से निस्तेज और *राहु से ग्रसित मानते हैं वैसे ही* अद्वितीय, अव्याकृत ज्ञान स्वरूप ईश्वर को क्लेश, कर्म, सुख, दुःख गुणों के प्रवाह और अपने कार्यरूप प्राणादिकों से आच्छादित समझ उस ईश्वर को जीव मानते हैं ।।३३।।

सुबोधिनी—**तं प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढं प्राणादिभिर्वशीकृत जीवं मन्येत**। स हि अध्यासकारणत्वेन न जानाति किंतु पदार्थसंबन्धमात्रम्। यथा कारागारे बद्धोपि बन्धकोपि ईश्वरोऽपि तिष्ठति, भ्रान्तः सर्वास्तुल्यानेव मन्यते। भगवतः देहाद्यध्यासहेतुर्नास्तीति वक्तुं दोषाभावगुणानाह **क्लेशेति**। शास्त्रान्तरसिद्धाः 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' इति अत्र तु संसारदुःखानुभव एव क्लेशः तत्साधकं कर्म, मतान्तरे तु तत्साध्यं, तस्य 'परिपाकः जात्यायुर्भोगाः'

१—पहले जन्म का, अर्थात् जिस देह का त्याग करता है उस द्वारा किया हुआ अनुभव।

देहसंबन्धो वा । तत्र यो गुणाप्रवाहः उत्पत्ति-स्थितिप्रलयपरंपरा । अज्ञानमारभ्य संसारप्रवाह-पर्यन्तं निरूपितम् । एतैः सर्वैरपि **अव्याकृतः अनुभवो** यस्य विशेषेण आ सर्वतः करणं व्याकरणं स्वाधीनकरणं स्वरूपनाशनमिति यावत् । अनुभवोऽत्र स्वरूपं ज्ञाननाशाभावः पूर्वमेव निरूपित इति तस्यैव वा अनुवादः । अनाशे हेतुः **ईश्वरमिति** । नहीश्वरानुभवं कश्चिन्नाशयितुं शक्नोति । तादृशोन्यस्ततोऽप्यधिकः नाशयेदिति चेत् तत्राह **अद्वितीयमिति** । असमोर्ध्वमित्यर्थः । एतादृशमपि प्राणेन्द्रियान्तःकरणदेहैः स्वविभूतिभिः आधिदैविकैः आनन्दमयैः स्वयमेव वा तथाभूत इति स्वरूपभूतैर्वा तैरुपगूढं लीलार्थमावेष्टितमन्यो भ्रान्तोस्मदादिजीवः स्वतुल्यं मन्येत । कीदृशं मन्यत इति शङ्कायामाह **सूर्यमिवेति** । यथा सूर्यं मन्यन्ते **मेघै**राच्छन्नं **हिमेन** निष्प्रभं **उपरागेण** ग्रस्तमिति तथा अविद्यया ग्रस्तं तृष्णादिना निष्प्रभं शरीरेण छन्नमिति । वस्तुतस्तु मेघादिभिः संबन्ध एव सूर्यस्य नास्ति बहुव्यवधानात् । तथाप्यन्यो वस्तुतो नाविद्याभिः ग्रस्तादिः । कुतो वा भगवान् भविष्यति भगवतस्तु प्रकार उक्त एव ॥३३॥

व्याख्यार्थ—उस (ईश्वर) को अपने ही उत्पन्न प्राणादि से वशीकृत जीव समझते हैं । वे निश्चय से अध्यास को कारणपन से नहीं जानते हैं, किन्तु केवल सम्बन्ध हैं, अर्थात् जीव को प्राणादि अध्यास कारण से वश करते हैं किन्तु भगवान् को अध्यास नहीं अतः अध्यास से वश नहीं है यों समझना भूल है, वहाँ केवल सम्बन्ध मात्र ही है । जिस प्रकार जेल में चोर भी है और अधिकारी भी है, भ्रान्त पुरुष दानों को समान ही समझता है । वास्तव में यों नहीं है, चोर दोषी है, अधिकारी निर्दोष है, इसको समझाने के लिए कहते हैं, कि भगवान् को देहादि विषय अध्यास नहीं है, दोषों का अभाव और गुणों को बताते हैं । शास्त्रों से 'अविद्यास्मितारागद्वेषभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' सिद्ध है, यहां तो संसार के दुःखों का अनुभव ही क्लेश है । उसका साधक कर्म है दूसरे मत में, अविद्यादि क्लेश पञ्चकों से साध्य है, उसका परिपाक है जाति, आयु और भोग अथवा देह सम्बन्ध, उसमें जो गुण प्रवाह है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की परम्परा है, इस प्रकार अज्ञान से लेकर संसार प्रवाह तक निरूपण किया इन सब से भी जिसको विशेष रूप से व्याकृति रहित अनुभव है, यहां अनुभव पद का तात्पर्य स्वरूप है । ज्ञान का नाश नहीं होता है यह पहले ही निरूपण किया है । अथवा यों उसका हो यह अनुवाद है, ज्ञान का नाश क्यों नहीं होता है ? जिसका कारण है कि आप ईश्वर हैं, ईश्वर के अनुभव का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है, उससे भी कोई दूसरा वैसा अधिक हो वह नाश कर दे, यदि यों कहो तो इसका उत्तर है कि भगवान् अद्वितीय हैं अर्थात् भगवान् के समान कोई अन्य है ही नहीं, न समान है, और न उनसे बढ़कर कोई है, अपने आधिदैविक अपनी स्वरूप भूत प्राणेन्द्रिय अन्तःकरण देह रूप अपनी विभूतियों से, आप ही वैसे हुए हैं, अथवा उन स्वरूपभूत प्राणादि से लीला करने के लिए अपने को छिपा रखा है, जिससे भ्रमित हमारे जैसे जीव, उनको अपने समान मानते हैं, इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि कैसा मानते है ? सूर्य की भाँति मानते, हैं, जैसे मनुष्य सूर्य को बादलों से आच्छादित,(हिम)पाले से निस्तेज और राहु से ग्रसित मानते है? वैसे ही भगवान् को अविद्या से ग्रस्त, तृष्णा, आदि से निस्तेज और शरीर से आच्छादित मानते हैं । वास्तविक तो सूर्य का मेघ आदि से सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि सूर्य और मेघ आदि का परस्पर बहुत अन्तर है, इसी तरह अन्य अर्थात् भगवान् भी अविद्याओं से ग्रस्तादि हैं यह झूठ है, मनुष्यों को अविद्या के कारण केवल भ्रम हैं, भगवान् वैसे कैसे होंगे ? भगवान् का प्रकार तो कहा ही है ॥३३॥

आभास—एवं तस्य भ्रान्तत्वमुक्त्वा तादृशं स्वनिस्तारार्थं सत्यमेव प्रार्थयत इति समर्थिते निःशङ्काः सन्तः उत्तरं दातुं प्रवृत्ता इत्याह **अथोचु**रिति ।

आभासार्थ—इस तरह उसका भ्रान्तपन कह कर, वैसे भगवान् को अपने निस्तार के लिए सत्य ही प्रार्थना करते हैं, यों समर्थन हो जाने पर निशङ्क हो 'अथोचुः' श्लोक से ऋषि उत्तर देने के लिए प्रवृत्त हुए—

श्लोक—**अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानकदुन्दुभिम् ।**
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः ॥३४॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! पश्चात् सब मुनियों ने वसुदेवजी को सावधान कर सब राजाओं और राम कृष्ण के सुनते हुए, वसुदेव को कहा ॥३४॥

सुबोधिनी—मुनित्वात् ज्ञानम् । **राजन्निति** सावधानार्थं संबोधनम् । **आभाष्येति** हे वसुदेव सावधानं शृण्वित्युक्त्वा । यतोऽयमानकदुन्दुभिर्महान् । **सर्वेषां शृण्वतामिति** । अनेन तेषां कथने उत्साहः सूचितः । **तथैवाच्युतरामयो**रिति । युक्तिपूर्वकं सर्वसिद्धान्ताविरुद्धं भगवान् शृणोतीति निरूपयिष्यन्तीति ज्ञापितम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—मुनि होने से वे ज्ञानी हैं अतः सब जानते हैं, राजन् ! सावधान करने के लिये संबोधन है । 'आभाष्य' इससे वसुदेव को कहा है, कि सावधान हो कर सुने क्योंकि वह वसुदेव आनक दुन्दभि होने से महान् है 'सर्वेषां शृण्वतां' सर्व के सुनते हुए पद से मुनियों को यों कहने में उत्साह था यह सूचन किया है, भगवान् कृष्ण और राम के भी सुनते हुए कहने लगे, यों कहने का अभिप्राय है कि हम जो कह रहे हैं वह युक्ति पूर्वक है और शास्त्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं हैं, ऐसा हो तब ही भगवान् सुनते हैं, इसलिए कहेंगे, यों जताया ॥३४

आभास—कर्मनिर्हारप्रकारमाहुः **कर्मणेति** सप्तभिः ।

आभासार्थ—कर्म 'निर्हार का प्रकार कर्मणा कर्म निर्हारा' सात श्लोक से कहते हैं,

श्लोक—**कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधुनिरूपितः ।**
यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ॥३५॥

श्लोकार्थ आपने कर्म से कर्म का नाश हो ऐसा प्रश्न किया है । इसका जो प्रकार है वह सर्व वादियों ने अच्छी तरह सिद्ध किया है कि श्रद्धा पूर्वक सर्व यज्ञों के ईश्वर विष्णु का पूजन करना है, अर्थात् सर्व यज्ञेश्वर विष्णु के यजन कर्म से कर्म का नाश होता है ।